अमर उजाला

नई दिल्ली । सोमवार, 4 फरवरी 2019

प्रवाह

निर्भीक पत्रकारिता का आठवां दशक

स्थापना वर्ष : 1948

अपने इतिहास, उत्पत्ति और संस्कृति के ज्ञान के बिना व्यक्ति जड़विहीन पेड़ की तरह है...

-मार्कस गर्वे

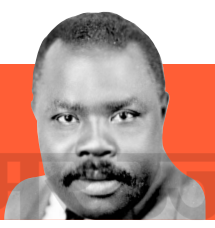

जमैका के राजनेता व उद्यमी

अमेरिका में गिरफ्तार किए गए भारतीय छात्रों के साथ अमानवीय सुलूक नहीं होना चाहिए, पर यह घटना हमारे खुद के संभलने का भी अवसर होना चाहिए-अमेरिका में रहने का आकर्षण इतना तीव्र क्यों होना चाहिए कि हम वैध-अवैध तरीकों की परवाह ही न करें!

अपने गिरेबान में

अमेरिकी आप्रवासन और सीमा शुल्क विभाग (आईसीई) द्वारा फर्जी वीजा के मामले में कुछ दलालों समेत सौ से अधिक छात्रों की गिरफ्तारियां एक और उदाहरण है कि भारतीयों में अमेरिका में रहने-बसने का आकर्षण इतना तीव्र है कि वे वैध-अवैध तरीके में भी फर्क नहीं करते। विदेश जाने की यह आकांक्षा कभी हम भारतीयों को कबूतरबाजों के शिकंजे में फंसने को मजबूर करती रही है, तो माल्टा नाव दुर्घटना जैसी त्रासदी भी देशवासियों को अवैध तरीके से विदेश भागने में नहीं रोक पाती। अमेरिका में स्टूडेंट वीजा के दुरुपयोग की बढ़ती शिकायतों के बीच आईसीई ने मिशिगन के ग्रेटर डेट्रॉयट शहर में फार्मिंगटन नाम के एक फर्जी विश्वविद्यालय की स्थापना की और दलालों ने छात्रों को वहां दाखिला भी दिला दिया, जबकि वहां कक्षाएं नहीं होती थीं। अमेरिका का तर्क है कि छात्रों को विश्वविद्यालय के फर्जी होने के बारे में पता था, इसलिए वे भी उतने ही दोषी हैं। जबकि भारत ने अमेरिकी दूतावास को राजनीतिक विरोध पत्र जारी करते हुए रैकेट चलाने वालों और उसमें फंसने वालों के बीच फर्क करने, उन छात्रों को भारतीय राजनयिकों से संपर्क करने की सुविधा देने और प्रत्यर्पित करने के बजाय उन छात्रों को रिहा करने का अनुरोध किया है। शिक्षा के बहाने फर्जी वीजा रैकेट चलाने वालों को शिकंजे में कसने के लिए ओबामा के दौर में भी यूनिवर्सिटी ऑफ नॉर्दन न्यू जर्सी नाम से फर्जी विश्वविद्यालय खोलकर भारतीय और चीनी युवाओं को गिरफ्तार किया गया था। हालांकि यह सवाल अपनी जगह है कि फर्जी वीजा के मामलों की जांच के लिए किया गया स्टिंग ऑपरेशन जायज है या नहीं। हो सकता है कि गिरफ्तार किए गए छात्रों में से कुछ को विश्वविद्यालय के फर्जी होने के बारे में पता न रहा हो। हिरासत में लिए गए छात्रों के साथ अमानवीय सुलूक भी नहीं होना चाहिए। रेडियो कॉलर के जरिये उन पर निगरानी रखना अत्यंत आपत्तिजनक है। सिर्फ यही नहीं कि ट्रंप के दौर में अमेरिका जाने वालों पर ज्यादा सख्ती शुरू हुई है, बल्कि यह घटना तब हुई है, जब एच-1बी वीजा मामले में अमेरिका के साथ हमारे मतभेद उभरे हैं। यह भी तय है कि इसके बाद अमेरिका में पढ़ने जाने की इच्छा रखने वाले भारतीय छात्रों के वीजा आवेदन पर सख्त जांच होगी। लेकिन यह मामला खुद हमारे लिए भी सचेत होने का कारण होना चाहिए।

रामदुर्ग का रास्ता

यह आवश्यक है कि राम जन्मभूमि विवाद की सुनवाई में बार-बार बदलती तिथियों से उपजे नैराश्य के वातावरण को सकारात्मकता की दिशा में ले जाया जाए। केंद्र सरकार द्वारा सर्वोच्च न्यायालय में 0.313 एकड़ छोड़कर शेष 67 एकड़ अविवादित परिसर की वापसी का आवेदन इस दिशा में एक संभावनापूर्ण प्रयास है। दरअसल वह संपूर्ण क्षेत्र पौराणिक-सांस्कृतिक रामदुर्ग का ही एक भाग है, जिसके मध्य में यह विवादित 2.77 एकड़ राम जन्मभूमि परिसर स्थित है।

आगरा और अवध के जिला गजेटियर से स्पष्ट होता है कि अयोध्या के महत्वपूर्ण धार्मिक स्थलों के चिह्नीकरण का कार्य वर्ष 1902 में फैजाबाद के तत्कालीन जिला मजिस्ट्रेट होबर्ट आईसीएस द्वारा संतों-महंतों के निवेदन पर संपन्न कराया गया था। एडवर्ड सप्तम के राज्यारोहण के कार्यक्रम के समापन के बाद आयोजन समिति के पास 1,000 रुपये की धनराशि शेष रही। उस अवशेष धन का सदुपयोग करते हुए होबर्ट ने अयोध्या के लुप्त हो रहे तीर्थों, कुंडों को चिह्नित करते हुए कुल 145 शिलालेख लगवाए।

अयोध्या के इन शिलालेखों एवं धार्मिक स्थलों की वर्तमान स्थिति के संबंध में आचार्य रामदेवदास शास्त्री जी ने अपने पुस्तकाकार शोध कार्य में विस्तार से लिखा है। बहुत से शिलालेख उपलब्ध हैं। कई तो ऐसे परिसरों में हैं, जिन पर कब्जा हो चुका है। कुछ प्रस्तर अपने धार्मिक स्थल सहित अत्यंत दीन-हीन दशा को प्राप्त हो गए हैं। कब्जा करने वालों ने बहुत से शिलालेख गायब भी कर दिए हैं। अयोध्या के इन महत्वपूर्ण स्थलों की चिंता किसी भी स्तर पर कुछ संतों, बैरागियों को छोड़कर कभी की गई हो, ऐसा दृष्टिगत नहीं होता।

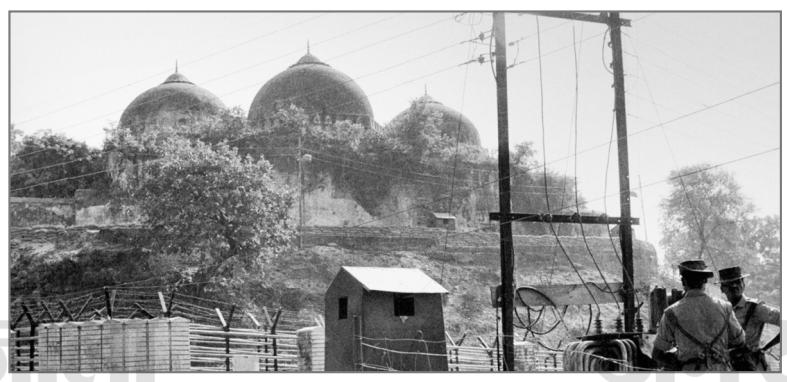

अयोध्या के सर्वप्रमुख तीर्थस्थल रामदुर्ग परिसर के पुनर्निर्माण के जरिये भविष्य में राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद विवाद का समाधान हो सकता है।

आर विक्रम सिंह

अयोध्या का सर्वप्रमुख तीर्थस्थल रामदुर्ग है। इसके नाम पर आज मोहल्ला रामकोट बसा हुआ है। श्रीहनुमानगढ़ी रामदुर्ग का पूर्वी प्रवेश द्वार है। राम जन्मभूमि का आंदोलन स्वतंत्र भारत में 1949 से चल रहा है, किंतु आश्चर्यजनक बात यह है कि रामदुर्ग की पुनः स्थापना की चिंता किसी भी स्तर पर नहीं की गई। कभी यह परिसर एक दुर्भेद्य किले के समान मजबूत प्राचीरों से घिरा रहा था। बताते हैं कि मीर बाकी ने तोपें लगाकर जन्मस्थान मंदिर को ध्वस्त किया था। फिर रामदुर्ग को पूर्णतः तहस-नहस करते हुए इसे सूबे का मुख्यालय बना दिया गया। मुगल और नवाबों के काल में यह परिसर उनके सूबेदारों का कार्यालय व निवास बना रहा। शिलालेखों द्वारा प्रदर्शित 43 स्थल इस रामदुर्ग में ही स्थित हैं। रामदुर्ग भारतीय पौराणिक इतिहास का वह अध्याय है, जो सामान्य परिदृश्य से ओझल रहा है। अयोध्या के स्थानीय जन भी इन शिलालेखों के संबंध में विशेष कुछ नहीं जानते, अन्यथा कलेक्टर होबर्ट द्वारा 1902 में स्थापित किए गए बहुत से शिलालेख आज गायब न होते। अयोध्या की 80 प्रतिशत भूमि नजूल है। नजूल राजकीय भूमि होती है, जिसका अस्थायी स्वामित्व वार्षिक कब्जे द्वारा नियत होता है। रामदुर्ग की भूमि पर नजूल व राजस्व कर्मियों द्वारा मनमाना भौमिक अधिकार दर्ज कर देने की बातें सामने आई हैं। दुर्ग की दक्षिणी भुजा की, जो सुग्रीव किले से लेकर कुबेर नवरत्न टीले तक जाती है, लंबाई लगभग 500-600 मी. होनी चाहिए। इस अनुमान से रामदुर्ग के वर्गाकार परिसर का क्षेत्रफल 100 एकड़ से अधिक होता है। 67 एकड़ भूमि का अधिग्रहण 1993 में केंद्र सरकार द्वारा किया जा चुका है। रामदुर्ग की सीमाओं का सर्वेक्षण कर इसकी सीमा में स्थित धार्मिक मठों को छोड़कर अन्य जो भी अवशेष भूमि है, उनका अधिग्रहण कर इसके पौराणिक पूर्व स्वरूप को फिर से स्थापित करने की दिशा में चला जा सकता है।

वाल्मीकि रामायण, स्कंद पुराण, अयोध्या महात्म्य के आधार पर हेंस बेकर और आचार्य रामदेवदास शास्त्री द्वारा किए गए शोध कार्यों के विवरण से स्पष्ट होता है कि रामदुर्ग एक चौरस, वर्गाकार परिसर रहा है। दुर्ग के ईशान कोण पर वानरवीर मयंद का स्थान, अग्निकोण पर महाराज सुग्रीव का किला, नैऋत्य कोण पर नवरत्न कुबेर जी का स्थल व वायव्य कोण पर वानरवीर शरभ का स्थान है। दुर्ग का मुख्य प्रवेशद्वार पूर्व में हनुमान गढ़ी से है, जिसे राजद्वार कहा जाता था। पश्चिम में दुर्गेश्वर द्वार के रक्षक हैं और उत्तर में विभीषण जी। दक्षिणी द्वार नल-नील के स्थान के मध्य से है। दुर्ग के प्राचीरों पर अंगद, सुषेन, गवाक्ष, शतबली, गंदमादन, जामवंत, द्विविद, मत्गजेंद्र, केसरी, पनस आदि वानर, रीछ व राक्षस वीरों के स्थान हैं। उत्तर दिशा में विभीषण जी के स्थान के साथ ही सरमा का भी स्थान है। सरमा अशोक वाटिका में माता सीता की अंगरक्षिका थीं, जिन्हें रामदुर्ग में अत्यंत सम्मानित स्थान दिया गया है। तात्पर्य यह कि पौराणिक आख्यानों और ग्रंथों के संदर्भों के अतिरिक्त स्थलीय सत्यापन से भी अयोध्या में रामदुर्ग के अस्तित्व पर कभी कोई सवालिया निशान नहीं रहा है।

रामचरितमानस की चौपाई है, *रामकाज कीन्हें बिनु मोहि कहां विश्राम।* रामदुर्ग की पुनः स्थापना एक बड़ा सांस्कृतिक रामकाज है। जन्मभूमि के 2.77 एकड़ विवादित क्षेत्र को, जो उसके मध्य में है, यदि छोड़ दें, तो दुर्ग परिसर, दुर्ग की प्राचीरों, प्राचीरों के स्थानों से संबंधित किसी भी प्रकार का कोई विधिक-न्यायिक विवाद किसी न्यायालय में लंबित नहीं है।

दुर्ग की पुनः स्थापना विवाद के समापन की दिशा में मील का पत्थर सिद्ध होगा। अयोध्या भगवान राम की जन्मभूमि ही नहीं, उनकी कर्मभूमि भी है। वीरों द्वारा रक्षित यह रामदुर्ग श्रीराम जन्मभूमि ही नहीं, राम का दरबार भी है और भारत की शक्ति व संस्कृति का अपूर्व स्थल भी। यह परिसर आज उजाड़ है। प्राचीरों के आज अवशेष मात्र रह गए हैं। मत्गजेंद्र का यह टीला रामदुर्ग प्राचीर का उत्तरी भाग है। रामदुर्ग की प्राचीरों, किलों का पुनर्निर्माण धर्म संस्कृति के प्रेमियों को इस कार्य से जुड़ने की महत प्रेरणा देगा। रामदुर्ग परिसर की पुनः स्थापना का कार्य भविष्य में जन्मभूमि संबंधी विवाद के समाधान की भूमिका भी स्वतः ही लिख देगा, इसमें संदेह नहीं है।

अंतर्ध्वनि

>> विनोद कुमार शुक्ल

प्रकृति की थिरकनें मनुष्य की थिरकनों में अंकुरित होती हैं

कलाएं हमारे आसपास से अलग नहीं होतीं। अवकाश में हम अनुकूल आसपास को ढूंढते हैं। हमारा जो समीप है, वह कला है। पहली बार समुद्र के किनारे जब गए थे. तब मैं, सुधा और बच्चों के साथ सीपियां बीन रहा था। सीपियों में तरह-तरह के रंगों के शेड्स और लकीरें थीं। 'ऐसी लकीरें तो पूजा में बनती है' बेटी ने मिली सीपी को देखकर कहा था। सीपियों की लकीरों की डिजाइनें समुद्र के तटों के लोक में बहुत हैं। जहां समुद्र नहीं हैं, वहां के लोक में भी यह कला की सीपी अवकाश के सुख की लहर से फैलती है। कला प्रकृति का दुहराव है। प्रकति इतनी संपूर्ण है कि कला में जो होगा, वह पहले प्रकृति में हो चुका होगा। कला का होना अंकुरित होना है। रंग अंकुरित होते हैं। संगीत भी। कला में पत्थर भी अंकुरित होता है। प्रकृति की सारी थिरकनें मनुष्य की थिरकनों में अंकुरित होती हैं और नृत्य का स्वरूप बनाती हैं। फिल्म की कला में दृश्य, रंग, ध्वनि, और व्यवहार इत्यादि होते हैं। फिल्म बनाने की तकनीक महंगी और सामान्य जन से दूर है। पर बनी हुई फिल्म की पहुंच सामान्य जन तक बहुत है। करीब-करीब पूरी आबादी अब दर्शक आबादी है। उठने, बैठने, बोलने, पहिनने में फिल्म का गहरा असर होता है। फिल्म अपनी निरर्थकता पर अधिक फूली-फली है, सार्थकता पर कम। सभी कलाओं की समझ एक है। वैसे कला को एकांत के परिवार में पोसा जाता है, समूह के परिवार में बड़ा किया जाता है और परंपरा में वह शाश्वत होता है। मनोरंजन ने बाजार की ताकत का सहारा लेकर साहित्य-कलाओं का नुकसान किया है। सत्ता गंभीरता और बौद्धिकता का अंदर से विरोध करती है, इसलिए उत्कृष्टता की विरोधी है। कला गरीबों में बीज की तरह बची रहती है।

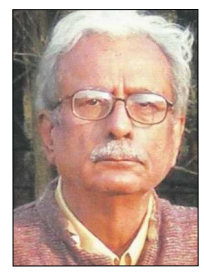

-सुप्रसिद्ध हिंदी साहित्यकार

मंजिलें और भी हैं

>> राजेश वालंद

कैंसर मरीजों के काम आई गाने की मेरी आदत

गौतम काटे कैंसर के चौथे चरण में थे। उन्हें मुंह का कैंसर हुआ है। उनके पास पैसे इतने थे नहीं, कि वह कैंसर के खिलाफ अपनी लड़ाई ज्यादा लंबा खींच पाते। हताश, निराश काटे बस मौत का इंतजार कर रहे थे। उनकी हालत देश के तमाम कैंसर रोगियों जैसी ही थी, क्योंकि हमारे देश में लोगों को खाने के लाले होते हैं, वे कैंसर जैसी बीमारी का इलाज भला कैसे करेंगे। काटे को इलाज के लिए कम से कम तीन लाख रुपयों की तत्काल जरूरत थी। लेकिन छह लोगों के परिवार के लिए, जहां कमाने वाला सिर्फ एक बेटा हो, यह रकम बहुत ज्यादा थी। काटे का छोटा बेटा पढ़ाई करता है और बड़ा बेटा महीने के आठ हजार रुपये वाली प्राइवेट नौकरी करता है। कुछ महीने पहले ही काटे को अपनी बीमारी के बारे में पता चला। सरकारी अस्पताल में लंबी वेटिंग लिस्ट से थककर उन्होंने दूसरे अस्पतालों के चक्कर काटने शुरू किए। इसी प्रक्रिया में गौतम काटे से मेरी मुलाकात हुई। उनके बारे में पता चलने पर मैं परेशान हो गया। मैं सोच रहा था कि न सिर्फ काटे, बल्कि ऐसे अन्य लोगों को भी कैंसर का इलाज कैसे मुहैया हो। निकट भविष्य में कोई ऐसी सरकारी योजना शुरू नहीं होने वाली, जो इनकी मदद करे। मैं कुछ ऐसे ट्रस्टों से जुड़ा हूं, जो इस तरह के जरूरतमंदों की मदद करते हैं। मैंने उनसे संपर्क किया और उन्हीं की मदद के सहारे काटे की चार कीमोथेरेपी कराईं।

कैंसर पीड़ितों की मदद के हमारे प्रयास पर लोगों ने भरोसा किया और हमने बारह लाख रुपये जुटाए।

लेकिन बात इतने से बनने वाली थी नहीं। इलाज तभी आगे बढ़ता, जब उनकी सर्जरी होती। और सर्जरी के लिए चाहिए थे तीन लाख रुपये। इन हालात में मेरे दिमाग में एक विचार आया। दरअसल मैं दिवंगत अभिनेता राजेश खन्ना का बहुत बड़ा प्रशंसक हूं। उन पर फिल्माए गाने मैं अक्सर गुनगुनाता रहता हूं। डॉक्टरी की पढ़ाई के दौरान मैं विभिन्न कार्यक्रमों और सेमिनार वगैरह में अपनी गायन प्रतिभा से लोगों का परिचय कराता रहता था। इस नाजुक मौके पर मैंने उसी वक्त के अपने दोस्तों से संपर्क किया, जो पढ़ाई के दौरान मंच पर मेरा साथ देते थे। मेरी योजना थी कि हम मिलकर एक चैरेटिबल सिंगिंग शो आयोजित करेंगे और उससे हुई कमाई से कैंसर पीड़ितों की मदद करेंगे।

वर्तमान में डॉक्टरी कर रहे तीन पुराने दोस्त मेरे साथ आए और हमने मिलकर योजना पर काम शुरू कर दिया। यह जरूर है कि हम पेशेवर गायकों की तरह अच्छा नहीं गा पाते, पर हमारी आवाज इतनी बुरी भी नहीं है। हमने आशा भोंसले के साथ काम करने वाले म्यूजिकल बैंड से संपर्क साधा। इस नेक काम के लिए बैंड ने भी मुफ्त में अपनी सेवाएं देने का फैसला किया।

हमारा उत्साह बढ़ता गया और फिर सोशल मीडिया के जरिये कार्यक्रम का प्रचार-प्रसार किया गया। ज्यादा से ज्यादा पैसे इकट्ठा करने के लिए शो के टिकट की कीमत एक हजार से ढाई हजार रुपये के बीच रखी गई। हम हैरान तब हुए, जब उम्मीद से पहले ही शो की सारे टिकट बिक गए। मतलब साफ था, कैंसर पीड़ितों की मदद के हमारे प्रयास पर लोगों ने भरोसा किया। उनके भरोसे पर खरे उतरते हुए हमने इकट्ठा हुए बारह लाख रुपये मुंबई के अंधेरी स्थित श्री आदिनाथ चैरिटेबल ट्रस्ट के हवाले कर दिया। हमें खुशी है कि इसी रकम से गौतम काटे का इलाज किया जा रहा है।

-विभिन्न साक्षात्कारों पर आधारित।

मंदिर-मस्जिद से परे

बेरोजगारी, गरीबी और शिक्षा-स्वास्थ्य सेवाओं का गंभीर अभाव हिंदुओं और मुसलमानों के लिए असली मुद्दे हैं। पर इन असली मुद्दों का समाधान आसान नहीं है। सो जब भी चुनाव करीब आते हैं, राम मंदिर का मुद्दा फिर से राजनीति में प्रथम स्थान पा लेता है।

मेरी राय में राम मंदिर आने वाले आम चुनावों में मुद्दा ही न होता, अगर मुस्लिम समाज का नेतृत्व समझदार लोग कर रहे होते। बाबरी मस्जिद जब नहीं रही उस जगह पर, जहां भगवान श्रीराम का जन्म हुआ था, तो उस मस्जिद को बाबर, या किसी और के नाम पर, अयोध्या में कहीं और क्यों न खड़ा कर दिया जाए? क्या जरूरी है कि उसका निर्माण दोबारा उसी जगह पर हो, जिस जगह के साथ करोड़ों हिंदुओं की आस्था जुड़ी हुई है? जब सुब्रमण्यम स्वामी जैसे राम जन्मभूमि आंदोलन के महायोद्धा कहते हैं कि मस्जिद सरयू नदी के उस पार बनवाने में वह स्वयं सहायता करेंगे, तो समस्या ही क्या है?

राम मंदिर बनाने की गुहार पिछले दिनों हिंदू समाज के कई वर्गों से उठी है। कुंभ मेला में साधु-संतों से, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सरसंघचालक से, भारतीय जनता पार्टी के नेताओं से और टीवी चर्चाओं में भाग लेते हुए ऐसे लोगों से भी, जो अपने आप को गर्व से हिंदू कहते हैं। सो एक बार फिर आने वाले चुनाव में राम मंदिर मुद्दा बन गया है। क्यों न बने, जब दिल्ली में पहली बार भारतीय जनता पार्टी की सरकार बनी है अपने बल पर? क्यों न बने, जब उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री स्वयं राजनीति में आए थे राम जन्मभूमि आंदोलन द्वारा?

दशकों से उलझा हुआ मंदिर-मस्जिद का मुद्दा बहुत पहले सुलझ गया होता, अगर मुस्लिम समाज के नेताओं ने समझदारी से अपना पक्ष रखा होता। शुरू में ही तय कर देते कि राम जन्मभूमि और कृष्ण जन्मभूमि को वे हिंदुओं को इस शर्त पर देने को तैयार हैं कि इसके बाद देश में जितनी अन्य मस्जिदें हैं, सब

तवलीन सिंह

सुरक्षित रहेंगी, तो राम जन्मभूमि का आंदोलन शायद शुरू ही न होता। लेकिन वे अड़े रहे इस बात पर कि एक भी मस्जिद की जगह मंदिर नहीं बनेगा, तो मामला तूल पकड़ता गया। इस मुद्दे पर कई राजनीतिज्ञों ने अपनी रोटियां सेंकी हैं और अदालतों में वकीलों के खूब पैसे बने हैं। बेगुनाह हिंदुओं और मुसलमानों ने दंगों में अपनी जानें देकर कीमत चुकाई है।

बाबरी मस्जिद गिराए जाने के बाद विराम लगता इस मंदिर-मस्जिद के झगड़े पर, तो आज शायद अयोध्या में राम मंदिर बन गया होता और सारा झगड़ा समाप्त हो गया होता। ऐसा हुआ नहीं है, तो सबसे ज्यादा दोष राजनीतिज्ञों का है। ईमानदारी से नेतृत्व दिखाया होता, तो इस मुद्दे को लेकर इतना तनाव, इतनी नफरत हिंदुओं और मुसलमानों के बीच न फैली होती। लेकिन ऐसा न करके उन्होंने इस मंदिर-मस्जिद के मुद्दे से जी भर के राजनीतिक लाभ उठाया है।

एक तरफ अगर हिंदुत्ववादी राजनेता हैं, जो ऊंची आवाजों में कहते-फिरते हैं कि जो लोग राम मंदिर का विरोध कर रहे हैं, वे देशद्रोही हैं, तो दूसरी तरफ कांग्रेस के राजनेता हैं, जो मुस्लिम वोट हासिल करने के लिए कुछ भी कहने को तैयार हैं। राहुल गांधी इसका प्रतीक बन गए हैं। हिंदुओं को लुभाने के लिए वह स्वयं को जनेऊधारी ब्राह्मण बताते हैं, तो दूसरी तरफ देवबंद में जाकर मुस्लिम टोपी पहन कर कहते हैं कि उनके पिताजी की हत्या न हुई होती, तो बाबरी मस्जिद को गिराए जाने का सवाल ही न उठता।

हिंदुओं और मुसलमानों के लिए असली मुद्दे बहुत हैं। बेरोजगारी, गरीबी और शिक्षा-स्वास्थ्य सेवाओं का गंभीर अभाव, लेकिन इन असली मुद्दों का समाधान आसान नहीं है। सो जब भी चुनाव करीब आते हैं, अयोध्या में राम मंदिर का मुद्दा फिर से भारत की राजनीति में प्रथम स्थान पा लेता है। दोष राजनेताओं का तो है ही, लेकिन विनम्रता से कहना चाहूंगी कि सबसे अधिक दोष उन संस्थाओं और व्यक्तियों का है, जिन्होंने इस मुद्दे को लेकर मुस्लिम समाज का नेतृत्व किया है।

हरियाली और रास्ता

गुड़िया, पिता और दादा जी

एक बेटी की कहानी, जिसे अपने सवाल का जवाब पंद्रह साल के बाद समझ में आया।

रेलवे प्लेटफॉर्म पुलिस के जवानों से भरा था। सामने ट्रेन खड़ी थी और गुड़िया को उसके पापा खिड़की से टाटा कर रहे थे। तभी इंजन का हॉर्न बजा। गुड़िया ने दादा जी से पूछा, पापा क्यों जा रहे हैं? दादा जी की आंखों से आंसू टपक रहे थे। मम्मी और दादी भी रो रही थीं। ट्रेन के हिलते ही गुड़िया पापा को टाटा करने लगी।

फिर सभी गुड़िया के साथ घर लौटने लगे। दादा जी के कानों में गुड़िया का सवाल गूंज रहा था। वह उसे कैसे बताते कि उसके पिता दूसरे शहर में कानून-व्यवस्था संभालने जा रहे हैं। वे स्टेशन से कुछ ही दूर चले थे कि उन्हें रास्ते में एक जुलूस मिला, जिसमें कुछ लोग दूसरे धर्म की बर्बरता के खिलाफ नारे लगा रहे थे। बाजार को पार करते हुए उनकी गाड़ी एक वीरान इलाके से गुजरी, जहां से कुछ लड़कियां हंसती-खिलखिलाती घर लौट रही थीं।

घर पहुंच कर जब दादा जी ने टीवी खोला, तो उस पर खबर आ रही थी कि एक पड़ोसी ने तेज संगीत बजाने की वजह से दूसरे पड़ोसी की गोली मारकर हत्या कर दी। दादा जी ने टीवी बंद कर गुड़िया को गोद में लिया, फिर बोले, तुम जानना चाहती हो कि तुम्हारे पापा क्यों गए? वह इसलिए गए, ताकि देश में हर धर्म के लोग सुख और शांति से रह सकें। वह इसलिए गए, ताकि देश के तमाम नागरिक अपना मनचाहा जीवन जी सकें। तुम्हारे पापा इसलिए गए, ताकि लोग एक दूसरे के साथ प्रेम और भाइचारे से रह सकें। गुड़िया अपने पापा से पूछना चाहती थी कि क्या आप मुझे प्यार नहीं करते?

लेकिन यह सवाल पूछने का उसे मौका ही नहीं मिला। दो महीने बाद यह मनहूस खबर आई कि गुड़िया के पापा अपराधियों के साथ मुठभेड़ में शहीद हो गए। रोती हुई गुड़िया को अपने सवाल का जवाब पंद्रह साल के बाद जाकर समझ में आ गया।

खुली खिड़की

एयरलाइंस का मुनाफा

भारत ही नहीं, बल्कि पूरी दुनिया में नागरिक उड्डयन क्षेत्र की संभावनाओं में बढ़ोतरी हो रही है। यही वजह है कि पिछले चार-पांच वर्षों के दौरान वैश्विक स्तर पर एयरलाइंस की कमाई में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।

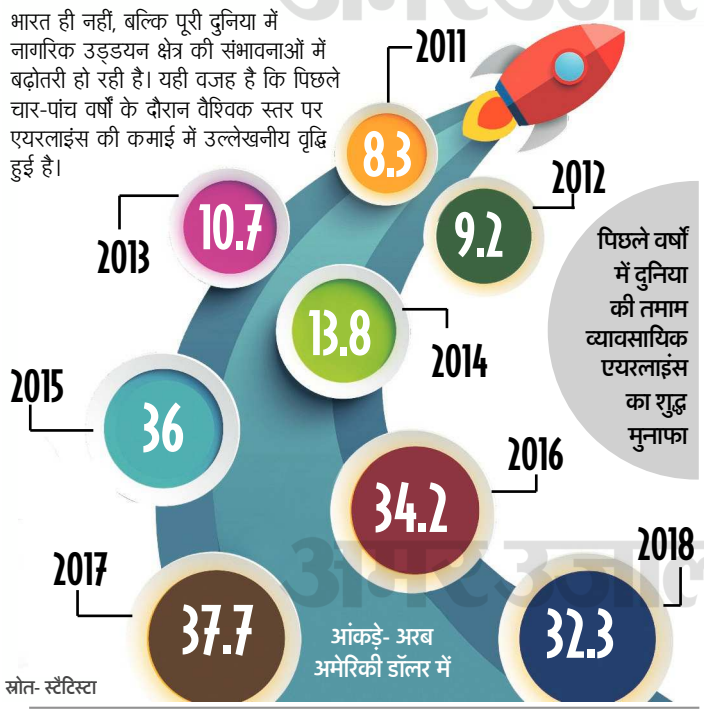

स्रोत- स्टैटिस्टा

सत्संग

गहराई जरूरी है

गांव में पधारे संत से मुखिया ने पानी की कमी का समाधान पूछा। संत ने कहा, पानी लाने के लिए पांच-दस कोस जाने के बजाय अच्छा हो कि तुम गांव में एक कुआं खोद लो। संत की सलाह मानकर उस आदमी ने कुछ लोगों को कुआं खोदने के काम में लगा दिया। लेकिन सात-आठ फीट खोदने के बाद उसमें से पानी तो क्या, गीली मिट्टी का चिह्न भी नहीं मिला। उसने वह जगह छोड़कर दूसरी जगह खुदाई शुरू करवाई। लेकिन दस फीट खोदने के बाद भी उसमें पानी नहीं निकला। उसने तीसरी जगह कुआं खुदवाना शुरू किया, लेकिन वहां भी निराशा ही हाथ लगी। इस क्रम में उसने आठ-दस फीट के दस कुएं खुदवा डाले, लेकिन पानी नहीं मिला। निराश होकर वह दोबारा संत के पास गया और उनसे कहने लगा, महाराज, आपकी सलाह पर मैंने कुआं खुदवाना शुरू किया था। मैंने अब तक दस कुएं खुदवा डाले, पर किसी में भी पानी नहीं निकला। संत को यह सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ। वह स्वयं चलकर वहां पहुंचे, जहां दस कुएं खोदे गए थे। लेकिन उनकी गहराई देखकर वह सारी बात समझ गए और कहने लगे, दस कुआं खोदने के बजाय अगर तुम एक कुएं में ही अपना सारा परिश्रम और पुरुषार्थ लगाते, तो पानी कब का मिल गया होता। अब तुम सब गड्ढों को बंद कर दो, केवल एक को गहरा करते जाओ, पानी निकल आएगा। धैर्य विहीन आदमी हर काम फटाफट करना चाहता है और किसी काम में सफल नहीं होता। मुखिया को बात समझ में आ गई।

-संकलित

कुछ लोग हमारे लिए जान देते हैं, पर हम इस जज्बे को समझ नहीं पाते।

दैनिक जागरण

विचार कर्म का बीज है

ममता की मनमानी

क्या इससे बड़ी विडंबना और कोई हो सकती है कि जो ममता बनर्जी मोदी सरकार की कथित लोकतंत्र विरोधी नीतियों का झंडा बुलंद किए रहती हैं वह खुद भाजपा के खिलाफ तानाशाही भरे रवैये का परिचय देने में संकोच नहीं कर रही हैं? समझना कठिन है कि उनकी सरकार ने किस अधिकार के तहत बालूरघाट में भाजपा की रैली को संबोधित करने के लिए वहां जाने की तैयारी कर रहे उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ के हेलीकॉप्टर को उतरने की अनुमति नहीं दी? इस मनमानी रोक के चलते उन्हें फोन से रैली को संबोधित करना पड़ा। यह किसी राज्य सरकार की ओर से विरोधी दल के नेताओं को अपने यहां सभा-सम्मेलन करने से रोकने का दुर्लभ उदाहरण है। दुर्भाग्य से ममता बनर्जी इस तरह के उदाहरण पेश करने में माहिर होती जा रही हैं। भाजपा की इस रैली में खलल डालने के पहले उनकी सरकार भाजपा अध्यक्ष अमित शाह की पश्चिम बंगाल यात्रा में भी इसी तरह की बाधा डाल चुकी है। उनकी सरकार पर यह भी आरोप है कि वह प्रधानमंत्री की रैलियों के दौरान पर्याप्त सुरक्षा व्यवस्था नहीं कर रही है। यह तो एक तथ्य ही है कि ममता सरकार कानून एवं व्यवस्था बिगड़ने का अंदेशा जताकर भाजपा को यात्राएं नहीं निकालने दे रही है। आखिर ऐसी सरकार के मुखिया को लोकतांत्रिक कैसे कहा जा सकता है? माना कि ममता बनर्जी अपने गुस्से के लिए जानी जाती हैं, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि वह लोकतांत्रिक मूल्यों और मर्यादाओं को ताक पर रख दें। मुश्किल यह है कि वह ऐसा डंके की चोट पर कर रही हैं। ऐसा लगता है कि उन्हें यह भान ही नहीं है कि वह एक राज्य की मुख्यमंत्री हैं और उन्हें अपने राजनीतिक विरोधियों के प्रति ऐसा रवैया शोभा नहीं देता। इस तरह का रवैया लोकतांत्रिक परंपराओं के विपरीत है। इससे केवल पश्चिम बंगाल ही नहीं, बल्कि देश की लोकतांत्रिक छवि को भी चोट पहुंचती है।

ममता बनर्जी अपने मनमाने तौर-तरीकों से अपना ही नुकसान कर रही हैं। आखिर राजनीतिक विरोधियों के प्रति असहिष्णुता दिखा रहा कोई नेता प्रधानमंत्री बनने का सपना कैसे देख सकता है? अपने राजनीतिक विरोधियों के प्रति ममता का असहिष्णु रवैया कुल मिलाकर उन वामदलों की ही याद दिला रहा है जिनके कठोर शासन से उकता कर लोगों ने ममता बनर्जी को सत्ता सौंपी थी। वह तो वाम दलों को भी मात दे रही हैं। वह भाजपा और मोदी सरकार के प्रति इस हद तक असहिष्णुता से भरी हुई हैं कि केंद्र सरकार की कल्याणकारी योजनाओं को ठुकराने के साथ ही केंद्रीय एजेंसियों के प्रति भी दुर्भावना का प्रदर्शन करने में लगी हुई हैं। ममता बनर्जी अपने मनमाने आचरण से यही दर्शा रही हैं कि सत्ता में आने के बाद कुछ नेता किस तरह बेलगाम हो जाते हैं। इस पर यकीन करना कठिन है कि यह वही ममता बनर्जी हैं जो संघीय ढांचे की रक्षा के लिए चिंता जताया करती थीं। उनकी सरकार का रवैया तो संघीय ढांचे की मूल भावना पर ही प्रहार करने वाला है। क्या ममता बनर्जी को साथ लेकर महागठबंधन बनाने वाले नेता यह देखेंगे कि उनकी एक सहयोगी कैसा अलोकतांत्रिक आचरण कर रही हैं?

एपीपी का इस्तीफा

सम्मानजनक पारिश्रमिक नहीं मिलने से क्षुब्ध झारखंड के दर्जनों सरकारी अधिवक्ताओं (एपीपी) ने पिछले तीन-चार महीने में अपने पद से इस्तीफा दे दिया है। एपीपी के लिए स्वीकृत 65 पदों में से महज 35 ही कार्यरत हैं। ये वही एपीपी हैं, जिन पर लगभग छह हजार सरकारी मुकदमों का भार है। झारखंड उच्च न्यायालय में विभिन्न वादों में सरकार की ओर से मजबूत पक्ष रखने की जवाबदेही इन पर ही है। इससे इतर अगर पारिश्रमिक की बात करें तो इन्हें चतुर्थ श्रेणी का भी मानदेय नहीं मिलता। इस श्रेणी के कर्मियों को सरकार जहां प्रति माह 30 से 40 हजार रुपये वेतन देती है, वहीं इन्हें बमुश्किल 18 हजार रुपये से संतोष करना पड़ता है। और तो और पिछले साल जारी नियमावली में ऐसे अधिवक्ताओं की निजी प्रैक्टिस पर भी रोक लगा दी गई है। ऐसे में सरकारी अधिवक्ताओं का मोहभंग हो रहा है, जिसका सीधा प्रभाव यहां की न्यायिक प्रक्रियाओं पर पड़ा है। एक ही प्रकृति के काम में पारिश्रमिक की विषमता की बात करें तो हाई कोर्ट में सरकारी मुकदमों की पैरवी के लिए केंद्र सरकार के वरीय अधिवक्ताओं को नौ हजार रुपये प्रति केस देने का प्रावधान है। राज्य के महाधिवक्ता को प्रतिदिन दस हजार, जबकि एएजी को आठ हजार रुपये प्रतिदिन इस मद में मिलते है। एपीपी को अन्य राज्यों में देय पारिश्रमिक पर गौर करें तो इसी कार्य के लिए बिहार में जहां लगभग प्रतिमाह 66 हजार रुपये दिए जाते हैं, वहीं पंजाब में सरकारी अधिवक्ताओं को 75 हजार रुपये मिल रहे हैं। हरियाणा में इन्हें प्रतिमाह तकरीबन एक लाख दस हजार रुपये, चंडीगढ़ में प्रतिमाह 27 हजार रुपये के अलावा प्रति मुकदमा 15 हजार रुपये और छत्तीसगढ़ में 45 हजार रुपये प्रतिमाह के अलावा दो हजार रुपये प्रतिदिन सरकार का पक्ष रखने पर देने का प्रावधान है। बताते चलें कि हाई कोर्ट में प्रतिदिन औसतन 150 ऐसे मामलों की सुनवाई होती है, जिस पर एपीपी सरकार का पक्ष रखते हैं। ऐसे में यह आवश्यक है कि सरकार झारखंड के सरकारी अधिवक्ताओं के पक्ष में सकारात्मक पहल करते हुए उनके लिए सम्मानजनक पारिश्रमिक की घोषणा करे ताकि दिनों दिन सरकार पर बढ़ रहे मुकदमों का बोझ कम हो।

दुनिया के लिए समस्या बनता बेलगाम चीन

आरपी सिंह

चीन की ताकत इतनी बढ़ गई है कि वह जिस देश पर हमला करेगा, उसे संभलने का मौका भी नहीं देगा। भारत को भी उससे और चौकस रहने की जरूरत है

अवधेश राजपूत

अमेरिकी रक्षा विभाग पेंटागन की 125 पन्नों की एक हालिया रिपोर्ट में चीन की बढ़ती सामरिक शक्ति पर चिंता व्यक्त की गई है। इसके साथ ही बीजिंग दुनिया में आर्थिक साम्राज्यवाद की मुहिम भी चला रहा है। इसके लिए वह गरीब और विकासशील देशों को कर्ज के जाल में फंसाकर उनकी जमीन कब्जाने की जुगत में है। उन देशों के बाजार और कच्चे माल की आपूर्ति के लिए उनके संसाधनों पर भी चीन की नीयत खराब है। उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका से लेकर यूरोप, अफ्रीका और एशिया तक दुनिया के हर कोने में चीन अपने पैर पसार रहा है। दुनिया भर के बाजार उसके सस्ते उत्पादों से पट रहे हैं जो स्थानीय अर्थव्यवस्थाओं को बर्बाद करने पर तुले हैं। चीन के उभार के चलते बीते कुछ वर्षों में अमेरिका को हिंद-प्रशांत क्षेत्र में अपनी सैन्य मौजूदगी बढ़ाने पर मजबूर होना पड़ा है। गत वर्ष जारी अमेरिकी राष्ट्रीय रक्षा रणनीति में रूस और चीन के साथ कड़ी प्रतिस्पर्धा की अहमियत पर जोर दिया गया था। इसमें दावा किया गया कि चीन की बढ़ती सैन्य शक्ति और रूस की आक्रामकता ने दुनिया भर में अमेरिकी सैन्य बढ़त को कमजोर किया है। सैन्य मोर्चे पर चीन के भारी खर्च से हिंद-प्रशांत क्षेत्र में सुरक्षा संबंधी बड़ी चुनौतियां उत्पन्न हो रही हैं। आधिकारिक रूप से बीजिंग रक्षा पर 157 अरब डॉलर खर्च कर रहा है, जबकि अमेरिका का रक्षा बजट अभी भी 602 अरब डॉलर है। वहीं भारत ने भी 2017 में रक्षा पर 52 अरब डॉलर खर्च किए। इस खर्च का दूसरा पहलू भी है। अगर विनिमय दरों की तुलना से इतर वास्तविक सैन्य खर्च की बात करें तो यह काफी ज्यादा होगा। यहां तक कि क्रय शक्ति समानता और अन्य पैमानों को देखते हुए भी यह अधिक है। अमेरिका को चीन की सैन्य चुनौती अभी तक केवल पश्चिमी प्रशांत महासागर तक ही सीमित थी, लेकिन बीजिंग अब ऐसी क्षमताएं हासिल करने में जुटा है कि उसकी सैन्य शक्ति के दायरे का क्षेत्रीय पड़ोसियों से परे तक विस्तार हो। बीजिंग ने पांचवीं पीढ़ी का उन्नत लड़ाकू विमान, एंटी शिप बैलिस्टिक मिसाइल और डीजल-इलेक्ट्रिक पनडुब्बियों के निर्माण की क्षमताएं हासिल कर ली हैं। अपनी अन्य ताकतों के साथ ही इन सबसे बीजिंग को न केवल पूरब और दक्षिण पूर्व एशियाई पड़ोसियों पर बढ़त हासिल हो जाती है, बल्कि उनकी सुरक्षा के लिए अमेरिकी हस्तक्षेप की राह रोकने में भी वह सक्षम हो गया है। रक्षा के मोर्चे पर उसकी तमाम कवायदें अब रंग ला रही हैं। ऐसे में अगर ताइवान या अमेरिका के दूसरे सहयोगियों का चीन के साथ संघर्ष छिड़ता है तो उनकी रक्षा के लिए अमेरिका के समक्ष चुनौती और कड़ी होगी।

चीन ने बाइडू-3 सैटेलाइट के सफल प्रक्षेपण के साथ ही अपने अंतरिक्ष आधारित नेविगेशन सिस्टम को बहुत दुरुस्त बना लिया है। इससे वह दुश्मन के ठिकानों पर बहुत बारीकी से निशाना लगा सकता है। चीनी सेना अब युद्ध के मैदान में वर्चस्व बना सकती है। पांचवीं पीढ़ी के लड़ाकू विमान से लेकर लंबी रेंज की हवा से हवा में मार करने वाली मिसाइलों के साथ ही आर्टिफिशियल इंटेलीजेंस और क्वांटम कंप्यूटिंग के मिश्रण से चीन ने सैन्य मोर्चे पर ऐसी तरक्की की है जिसने दुनिया के सामने एक गंभीर खतरा पैदा कर दिया है। चीनी नौसेना में इलेक्ट्रोमैग्नेटिक रेल गन के रूप में एक बेहद मारक हथियार जोड़ा गया है। इसे 'सुपरगन' का नाम भी दिया जा रहा है। यह हवा में भी बेहद तेजी और अचकूता के साथ निशाना लगा सकती है तो एयरक्राफ्ट मिसाइल को काफी दूरी से ही सटीकता के साथ ध्वस्त कर सकती है। अपने शक्तिशाली वार से यह किसी जहाज को भी डुबो सकती है। चीन की हाइपरसोनिक मिसाइल भी लक्ष्य से भटके बिना ही 5,000 किलोमीटर प्रति घंटे की रफ्तार की गति से उड़ान भर सकती है। हथियार प्रणाली अधिकांश मिसाइलों में सेंध लगाने में सक्षम है। चीन की ताकत इतनी बढ़ गई है कि वह जिस देश पर हमला करेगा, उसे संभलने का मौका भी नहीं देगा। वह उस देश की चेतावनी प्रणाली और मिसाइल रक्षा तंत्र को भी तहस-नहस कर सकता है।

दक्षिण चीन सागर में भी चीन दूर-दराज के इलाकों में मिसाइल शेल्टर, अत्याधुनिक सेंसर और रडार सिस्टम से लैस सैन्य सुविधाओं वाली चौकियां विकसित कर रहा है। पानी के भीतर निगरानी के लिए भी उसने नई तकनीक ईजाद की है। इसके दो फायदे हैं। एक तो चीनी पनडुब्बियों को लक्ष्य पर निशाना लगाने में सहूलियत होगी तो चीन के सामुद्रिक रेशम मार्ग को भी सुरक्षा मिलेगी। जहाजों, उपग्रहों और जलमग्न ग्लाइडरों के उपयोग से यह प्रणाली दक्षिण चीन सागर और हिंद-प्रशांत महासागर में जल के भीतरी परिदृश्य से जुड़े तमाम आंकड़े जुटा सकती है।

विदेशों में किया चीनी निवेश भी अब फलीभूत हो रहा है। व्यापक वैश्विक मौजूदगी के लिए आतुर चीन को इससे दूसरे देशों में नौसैनिक बंदरगाह बनाने का अवसर मिला। चीनी रणनीतिकार इस पर भी विचार कर रहे हैं कि हिंद-प्रशांत क्षेत्र और उत्तर-पूर्वी अफ्रीका में अपने सैन्य प्रभुत्व को कैसे भुनाए जिनसे फारस की खाड़ी जैसे उसके प्रमुख जलमार्गों का सीधा सरोकार है। ये चीन की सामुद्रिक जीवनरेखा की धुरी माने जाते हैं। वहीं व्यापार और अवसंरचना से जुड़ी बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव परियोजना का भी यही मकसद है जिसमें चीन को एशिया और यूरोप से जोड़ना है। इससे चीन को अपने सागर तट से हजारों मील दूर तस्करों से निपटने, संकट से उबरने और नौसैनिक अभ्यास में मदद मिलेगी। आर्कटिक महासागर, बाल्टिक सागर और अन्य तमाम सुदूरवर्ती जलमार्गों तक उसकी पैठ बढ़ी है। चीनी नौसेना भी बेहद सक्षम विमानवाहक पोत विकसित करने में जुटी है। इससे वैश्विक शक्ति संतुलन में पलड़ा भी चीन की ओर झुकेगा। सामरिक रूप से महत्वपूर्ण जिबूती में भी चीन का पहला विदेशी सैन्य अड्डा शुरू हो चुका है। बीजिंग आर्थिक शिकंजे और आक्रामक कूटनीति का भी सहारा ले रहा है। पाकिस्तान के खस्ता आर्थिक हालात का भी चीन भरपूर लाभ उठा रहा है जिसे उसने एक तरह से अपनी जागीर बना लिया है। भारत के साथ दुश्मनी का साझा भाव भी इन दोनों देशों को करीब लाया है। भारत के पड़ोसी देशों में भी भारी निवेश के जरिये चीन उन्हें लुभाने में जुटा है। चीन के अधिकांश पड़ोसी उसके वर्चस्व के आगे मौन हैं। वहीं अपने आकार, आबादी और अन्य पैमानों के आधार पर भारत ही उसे चुनौती देने में सक्षम है। भारत को असल में नेहरू के दौर से चली आ रही समाजवादी नीतियों का खामियाजा भुगतना पड़ा। उनके चलते भारत चीन से पिछड़ता गया, जबकि 1980 के दशक में भारत का जीडीपी चीन से अधिक था। भारत के पास सैन्य तैयारियों के लिए वित्तीय संसाधनों का अभाव है।

जहां चीन पांचवीं पीढ़ी का उन्नत लड़ाकू विमान बनाकर मारक हथियारों का जखीरा बढ़ा रहा है वहीं भारतीय वायु सेना की न्यूनतम जरूरत को पूरा करने के लिए राफेल विमान खरीद को ही कुछ नेता अटकाने में अड़े हैं। ऐसे नेताओं के इरादों पर पानी फेरने के लिए जनता को आगे आना होगा ताकि भारत सैन्य और आर्थिक रूप से सशक्त बन सके। देश के अस्तित्व के सवाल पर सियासत नहीं होनी चाहिए।

(लेखक सेवानिवृत्त सैन्य अधिकारी हैं)

response@jagran.com

बजट में खुला राहत का पिटारा

कार्यवाहक वित्त मंत्री पीयूष गोयल ने अंतरिम बजट में समाज के हर एक तबके को दिल खोल कर राहत दी है। इसके लिए उन्होंने लोगों पर किसी तरह के अतिरिक्त कर का बोझ भी नहीं डाला है। वर्ष 2019-20 के लिए पेश अंतरिम बजट में उन्होंने छोटे किसानों के लिए आय सहायता योजना की घोषणा, मध्यम वर्ग को आयकर में छूट, सेना की पेंशन में बढ़ोतरी, असंगठित क्षेत्र के कामगारों के लिए पेंशन योजना और एमएसएमई इकाइयों को ब्याज में छूट आदि अनेक कदमों की घोषणा की गई। लगता है कि इस तरह वित्त मंत्री ने लोकसभा चुनावों के लिहाज से जनता का दिल जीतने की पुरजोर कोशिश की है। उल्लेखनीय है कि ऐसी तमाम राहतें देने के बावजूद लोगों पर करों का कोई नया बोझ नहीं डाला है, बल्कि उन्होंने बजट घाटा घटाने के उद्देश्य से कुछ समाधान भी पेश किया है। इन बजट प्रस्तावों के अलावा वित्त मंत्री ने प्रत्येक मोर्चे पर मोदी सरकार की उपलब्धियों की विस्तृत सूची भी सामने रखी। एकबारगी तो ऐसा लगा कि वह कोई चुनावी घोषणापत्र पढ़ रहे हैं। शेयर बाजार ने बजट का स्वागत जोरदार तेजी के साथ किया है। विपक्ष को भी इस सर्वसमावेशी बजट की आलोचना करने में कठिनाई महसूस हो रही है।

वित्त मंत्री ने प्रस्ताव रखा है कि पांच लाख रुपये सालाना तक की आमदनी वाले लोगों को आयकर नहीं देना पड़ेगा। यदि वे मान्य कर बचत साधनों में निवेश करें तो उन्हें 6.5 लाख रुपये तक की आय पर आयकर नहीं देना होगा। हालांकि इससे सरकार को अपनी आय में 18,500 करोड़ रुपये का घाटा झेलना होगा। इसके अलावा बजट में स्टैंडर्ड डिडक्शन वर्तमान 40,000 से बढ़ाकर 50,000 रुपये किया गया है, किंतु आयकर की दरें यथावत रखी गई हैं। ब्याज की आय संबंधी स्रोत पर कर कटौती (टीडीएस) की सीमा 10000 रुपये से बढ़ाकर 40000 रुपये की गई है। किसानों के लिए बहु अपेक्षित आय सहायता योजना की घोषणा की गई है। प्रधानमंत्री किसान सम्मान निधि के तहत दो हेक्टेयर तक की कृषि भूमि के स्वामी किसानों को वार्षिक 6,000 रुपये तीन समान किस्तों में दिए जाएंगे। इसका वार्षिक खर्च 75,000 करोड़ रुपये होने का अनुमान है और उससे 12 करोड़ किसानों को लाभ मिलेगा। यह योजना एक दिसंबर, 2018 से ही लागू मानी जाएगी। इसके अलावा किसानों के लिए पशुपालन और प्राकृतिक आपदा के साथ जुड़ी अन्य कुछ राहतें भी घोषित हुई हैं।

असंगठित क्षेत्र के कामगारों के लिए लाई गई पेंशन योजना भी एक अन्य महत्वपूर्ण कल्याणकारी कदम है। प्रधानमंत्री श्रमयोगी मानधन योजना के तहत फेरी वाले, रिक्शा वाले, खेत मजदूर और घरेलू कामगारों सहित करोड़ों श्रमजीवियों के मामूली योगदान जितनी रकम सरकार भी उनके खाते में जमा कराएगी। असंगठित क्षेत्र के 42 करोड़ कामगारों में से 10 करोड़ श्रमजीवियों को इस योजना का लाभ मिलेगा। अन्न सुरक्षा योजना के लिए गत वर्ष के 92,000 करोड़ रुपये की तुलना में इस वर्ष 1,70,000 करोड़ रुपये खर्च किए जाएंगे, जबकि ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना के लिए 2019-20 में 60,000 करोड़ रुपये आवंटित किए गए हैं।

वित्त मंत्री ने आयकर कानून की धारा 54 में संशोधन भी प्रस्तावित किया है। मौजूदा कानून के अनुसार कोई भी व्यक्ति यदि अपना घर बेचता है और उसे दीर्घकालीन मुनाफा होता है तथा वह उसका एक घर खरीदने में निवेश

आशीष कुमार चौहान

सबसे खास पहलू यही रहा कि तमाम वर्गों को रियायतें देते हुए किसी वर्ग विशेष पर उसका बोझ नहीं डाला गया है

करता है तो उसे कोई कर नहीं देना होता है। वहीं वह यदि एक घर बेचकर एक से अधिक घर खरीदता है तो उसे पूंजीगत लाभ कर देना पड़ता है। प्रस्तावित संशोधन के अनुसार अब यदि कोई व्यक्ति एक से अधिक घर खरीदेगा और अपने पूंजीगत लाभ को निवेश करेगा तो उसे कोई भी टैक्स नहीं देना होगा, लेकिन इसका लाभ लेने के लिए उसे दो शर्तों का पालन करना होगा। मसलन यह लाभ पूरी जिंदगी में एक बार ही लिया जा सकता है और पूंजीगत लाभ दो करोड़ रुपये से अधिक नहीं होना चाहिए। यह संशोधन आकलन वर्ष 2020-21 से लागू होगा। अगर किसी अमीर व्यक्ति का विचार अपने पूंजीगत लाभ को पुनः निवेश करने का हो तो उसे अपने घर को अप्रैल के बाद बेचना चाहिए और नए संशोधनों का लाभ उठाना चाहिए। मौजूदा आयकर कानून की धारा 80/बी के तहत कोई भी व्यक्ति किफायती आवासीय योजना शुरू करता है तो प्रोजेक्ट के कुल मुनाफे को कर योग्य आय की गणना के समय शामिल किया जाएगा। बशर्ते इस प्रोजेक्ट की मंजूरी 31 मार्च, 2019 से पहले होनी चाहिए। अब नए संशोधन के अनुसार इस प्रोजेक्ट की मंजूरी 31 मार्च, 2020 से पहले प्राप्त करनी होगी। रियल एस्टेट डेवलपरों को इससे फायदा होगा। ऐसे में संबंधित व्यक्ति को धारा 80/बी की शर्तों का पालन करना होगा। उसे कंपनी, भागीदारी फर्म, एलएलपी, संयुक्त हिंदू परिवार होने पर आयकर कानून की धारा आइआइएसजेजेबी अथवा आइआइएसजेई के तहत बुक लाभ का 18.5 प्रतिशत कर भरना होगा।

सरकार का कहना है कि किफायती आवासीय परियोजना का मुनाफा कर मुक्त है, वह उचित नहीं है। ऐसे अमीर लोगों को 25 प्रतिशत के स्थान पर 18.5 प्रतिशत कर भरना पड़ेगा। आयकर कानून 1961 की धारा 16 के वर्तमान प्रावधानों के अनुसार करदाता को वेतन की आय में 40,000 रुपये का स्टैंडर्ड डिडक्शन प्राप्त है। बजट 2019-20 में प्रस्तावित प्रावधान के मुताबिक असेसमेंट ईयर (आकलन वर्ष) 2020/21 से अर्थात एक अप्रैल, 2019 से शुरू हो रहे वित्त वर्ष से यह स्टैंडर्ड डिडक्शन 40,000 रुपये से बढ़ाकर 50,000 रुपये कर दिया गया है। फलतः करदाता को वेतन की आय में वार्षिक 2000 से 3000 रुपये तक आयकर में बचत हो सकती है। आयकर कानून की धारा 194 ए के तहत बैंक डिपॉजिट, पोस्ट ऑफिस डिपॉजिट आदि पर उत्पन्न ब्याज की रकम 10,000 रुपये से अधिक होने की स्थिति में 10 प्रतिशत की दर से कर कटौती की जाती है। करदाता यदि वरिष्ठ नागरिक हो तो यह सीमा 50,000 रुपये की है। बजट 2019 में प्रस्तावित प्रावधान के अनुसार यह सीमा 10,000 रुपये से बढ़ाकर 40,000 रुपये की गई है। वरिष्ठ नागरिक के मामले में इस प्रावधान में कोई फेरबदल नहीं किया गया है। प्रस्तावित प्रावधान आकलन वर्ष 2020-21 में लागू होगा। आयकर कानून की धारा 194-आई में किराया भुगतान की आय 1,80,000 रुपये से अधिक हो तो स्रोत पर कर कटौती की जाती है। बजट 2019-2020 के प्रस्तावित प्रावधान के मुताबिक आकलन वर्ष 2020-21 से यह राशि बढ़ाकर 2,40,000 रुपये की गई है। कुल मिलाकर वित्त मंत्री ने इस बजट में समाज के प्रत्येक वर्ग को कुछ न कुछ फायदा पहुंचाने की सफल कोशिश की है।

(लेखक बीएसई के प्रबंध निदेशक हैं)

response@jagran.com

ऊर्जा

मन की शांति

जीवन में मन की शांति सबसे महत्वपूर्ण है, लेकिन लोगों की बढ़ती व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं और निरंतर बढ़ रहे अशांत माहौल में हमारी मन की शांति दुर्लभ होती जा रही है। मन की शांति के अभाव में सब कुछ होने के बावजूद हमें ऐसा लगता है कि हमारे पास कुछ भी नहीं है। यदि हम विश्व भर में अपनी विजय पताका फहरा दें, लेकिन मन की शांति के अभाव के कारण तब भी हमें महसूस होता है कि अभी कुछ पाना शेष रह गया है। कहते हैं कि सम्राट अशोक को भी सच्ची खुशी नहीं मिली थी और तब उन्होंने मन की शांति के लिए धर्म का मार्ग चुना। मन की शांति मिल जाने के बाद हमें फिर किसी अन्य वस्तु की चाह नहीं रहती। ऐसे में प्रत्येक मनुष्य को यही कोशिश करनी चाहिए कि उनके द्वारा किए जा रहे कर्म से कुछ हासिल हो या न हो, लेकिन उसे मन की शांति जरूर मिलनी चाहिए।

असल में वे लोग गलत हैं जो यह शिकायत करते हैं कि उन्हें लाख कोशिश करने के बावजूद मन की शांति नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि वे लोग अपने मन की शांति के लिए वास्तविक प्रयास ही नहीं करते हैं। भौतिक सुख-संसाधनों से हमें क्षणिक खुशी जरूर मिलती है, लेकिन मन की शांति नहीं। अधिक से अधिक धन एवं वैभव कमाने के चक्कर में ज्यादातर मनुष्य अपने मन की शांति को दांव पर लगा देते हैं और समस्याओं को स्वयं ही आमंत्रित करते हैं। जाने-अनजाने समस्याओं और चिंताओं से घिरे रहने की हमारी आदत के कारण ही हमारे मन में अशांति अपना घर बना लेती है। इसके विपरीत जो लोग वास्तव में मन की शांति के लिए प्रयासरत रहते हैं, वे भीड़ में भी अपने लिए एकांत की खोज कर लेते हैं।

अगर हम वास्तविक शांति चाहते हैं तो हमें संसारिक चीजों से ध्यान हटाकर अपने भीतर की ओर यात्रा करनी होती है। मन की शांति के लिए हमें एकाग्रचित होकर अपने अंदर मौजूद शांति को जगाना पड़ता है। जब तक हमारा मन बाहर भटकता रहेगा तब तक शांति हमारे मन में नहीं उतरेगी, लेकिन जब हमारा मन एक जगह ठहर जाएगा तो फिर हमारे भीतर शांति की यात्रा शुरू हो जाएगी। कहने का सार यही है कि मन की शांति के लिए आत्मचिंतन करना ही काफी है। जब हम अपने मन को खोज लेते हैं तो कुछ समय के बाद वह अपने आप शांत हो जाता है।

महायोगी पायलट बाबा

कठपुतली कला का भविष्य

रमेश ठाकुर

हकीकत यह है कि अंगुलियों का हुनर दिखाने वाले कठपुतली कलाकार अब अंगुलियों पर ही गिने जा सकते हैं

कठपुतली कला ने कभी विदेशों में भारत का परचम लहराया था। हिंदुस्तान को एक अलग पहचान दिलाई थी, लेकिन अब यह कला बदहाली के कगार पर पहुंच चुकी है। कहते हैं कि जब हुनर ही हाशिये पर आ जाए तो यकीनन हसरतें बेमानी सी हो जाती हैं। नाउम्मीदी का भंवर भविष्य को बदहाली के मुहाने पर ले जाता है। हकीकत यह है कि अंगुलियों का हुनर दिखाने वाले कलाकारों को अब अंगुलियों पर ही गिना जा सकता है।

जी हां, कभी कठपुतली की कला से देश-विदेश में चर्चा बटोरने वाले कलाकार आज दो वक्त की रोटी के लिए भी मोहताज हैं। डिजिटल इंडिया के युग में कठपुतली के कलाकार बदहाली की जिंदगी जी रहे हैं। दिल्ली के शादीपुर डिपो के पास कठपुतली कॉलोनी में 2600 परिवार रहते हैं, लेकिन कठपुतली कॉलोनी की बदहाली की कहानी नई नहीं है। देश में कठपुतली की कहानियां कागजों में सिमटीं तो कलाकारों की हालत खराब हो गई। राजस्थान से आए करीब 250 कलाकारों के लिए तो अब दो वक्त की रोटी जुटाना भी कठिन हो रहा है। ये कलाकार बताते हैं कि जब चुनाव नजदीक आते हैं तो हरेक सियासी नेता हमारी कॉलोनी में आते हैं, लेकिन वे वादों के सिवाय हमें कुछ और नहीं देकर जाते। चुनाव संपन्न होने के बाद उनके वादे ठंडे बस्ते में चले जाते हैं। कलाकार कहते हैं अब उनको इसकी आदत हो गई है। उनको पता है कि कुछ होने वाला नहीं है। 22 साल के एक युवा कलाकार विकास बताते हैं कि 20 साल की उम्र में उन्होंने कठपुतली की कलाकारी सीखी थी। उनके पिता जी ने उन्हें यह कला सिखाई थी, लेकिन आज के दौर में उनका हुनर बेमानी हो गया है। यकीनन कठपुतली के कलाकारों की जिंदगी भी कठपुतली सरीखी हो गई है।

कठपुतलियों के कलाकर ज्यादातर राजस्थान के निवासी होते हैं। राजस्थान में इस कला को लोकनृत्यों में पारंगत माना जाता था। पहले इस कला के कद्रदान हुआ करते थे, लेकिन वक्त ने इस कला को खात्मे की ओर धकेल दिया है। अगर सरकार ने जल्द ही इस ओर ध्यान नहीं दिया तो आने वाले वक्त में कठपुतली के कलाकार इतिहास तो बन ही जाएंगे, साथ ही साथ कठपुतली की कला भी टीवी और पुराने दस्तावेजों का हिस्सा बन जाएगी। समय की मार के चलते अधिकांश कठपुतली कलाकारों ने इस कला से किनारा कर लिया है। कलाकारों की मानें तो कठपुतली के कार्यक्रम अब साल में एक दो ही मिलते हैं या फिर नहीं भी मिलते हैं। इससे घर का खर्चा कैसे चले? लिहाजा अब वे ढोल बजाने के धंधे में लग गए हैं। बच्चे से लेकर बुजुर्ग तक ढोल बजाने की कला में जुट गए हैं। कठपुतली के कलाकार बताते हैं कि वे बीते दस सालों से ढोल बजाकर ही अपने परिवार का गुजारा कर रहे हैं।

एक जमाना था जब प्रदेश स्तर पर लोककलाओं को बढ़ावा देने वाले कार्यक्रम होते थे तो यही कलाकार प्रमुखता से हिस्सा लेते थे, लेकिन अब ऐसे कार्यक्रम भी नहीं हो रहे हैं। जाहिर है अगर हालात ऐसे ही रहे तो वह वक्त दूर नहीं जब कठपुतली कला इतिहास का हिस्सा बन जाएगी।

(लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं)

एकतरफा विचार

एचएएल की नाकामी शीर्षक से लिखे संपादकीय में कहा गया है कि इन दिनों एचएएल (हिंदुस्तान एरोनॉटिक्स लिमिटेड) का काम बहुत खराब हो गया है। मेरे खयाल से देश की एक प्रतिष्ठित संस्था के काम-काज का यह एकतरफा आकलन है। बहरहाल यदि संपादकीय में लिखी बातों को कुछ देर के लिए सही मान भी लिया जाए तो मेरा सवाल यह है कि कभी नामी कंपनी रही एचएएल को बर्बाद किसने किया है? पांच वर्ष का समय किसी सरकार के लिए कम नहीं होता है। मैं पूछना चाहूंगा कि इस अवधि में केंद्र की मोदी सरकार ने इसकी गरिमा लौटाने के लिए क्या किया? उसका आधुनिकीकरण क्यों नहीं किया गया? सरकार उसे पूंजी और नए ऑर्डर क्यों नहीं दे रही है? इस तरह कहीं एचएएल को नाकाम बनाकर केंद्र सरकार उसे किसी निजी कंपनी के हाथों बेचने की साजिश तो नहीं कर रही है। जहां तक एचएएल की कुशलता और विशेषज्ञता का प्रश्न है तो मैं यही कहना चाहूंगा कि सरकार ऐसे लोगों की भर्ती ही क्यों करती है? जिन कर्मचारियों का प्रदर्शन स्तरीय नहीं है सरकार उन्हें बाहर का रास्ता क्यों नहीं दिखाती? केंद्र सरकार का दोष एचएएल प्रबंधन पर डालने से क्या फायदा? और अंत में जिस एचएएल के पास अभी अपने कर्मचारियों को वेतन देने के पैसे नहीं हैं तो फिर उससे उच्च स्तरीय काम खोजने का क्या औचित्य है! अफसोस की बात है कि संपादकीय इन सब बिंदुओं पर खामोश है।

shishir1954@gmail.com

अधूरा विश्लेषण

चुनाव के साथ आर्थिक सेहत की चिंता शीर्षक के तहत

मेलबाक्स

लिखे अपने लेख में संजय गुप्त ने मोदी सरकार के अंतरिम बजट की तुलना कांग्रेस राज के अंतिम बजट से की है, लेकिन लेखक यह क्यों भूल गए कि देश का मतदाता सालाना बजट का विश्लेषण करके ही अपने कीमती वोट का प्रयोग नहीं करता, बल्कि सरकार की पांच साल की नीतियों का भी विश्लेषण करता है। देश के विकास में किसानों और कामगारों का बहुत बड़ा योगदान होता है। सरकार ने बजट में इनके लिए कुछ घोषणाएं कर उपकार नहीं किया है, बल्कि यह उसकी जिम्मेदारी है। चुनाव के समय लोकलुभावने वादों पर आजकल एक छोटी-सी कहानी वायरल हो रही है कि एक बार एक जंगल में भेड़ों के एक झुंड को जंगल का राजा संबोधन करते हुए कह रहा था कि इस बार सर्दियों में सभी को फ्री में कंबल बांटे जाएंगे, इस पर एक भेड़ का बच्चा पूछता है कि कंबल के लिए ऊन कहां से आएगी? हमसे ही न? क्या यह सच नहीं है कि केंद्र सरकार आम लोगों को अभी जो राहत दे रही है उसका बोझ अंततः उन्हीं पर डालेगी?

राजेश चौहान, जालंधर

शर्मनाक हरकत

हम अमेरिका, चीन और जापान जैसा विकास अपने देश में भी तो चाहते हैं, लेकिन वहां के नागरिकों की तरह बर्ताव नहीं करना चाहते? हम हर सुविधाओं से सुसज्जित, सुरक्षित और सुविधायुक्त ट्रेनों की मांग करते हैं, लेकिन दुख की बात है कि जब सरकार ऐसी ट्रेनों को चलाने के लिए आगे आती है तो हम नागरिक उस पर पत्थरबाजी करते हैं? ऐसा क्यों? एक नागरिक के रूप में हम अपनी जिम्मेदारी कब समझेंगे? आखिर हम क्यों राष्ट्रीय संपत्तियों को नुकसान पहुंचाते हैं? वंदे भारत एक्सप्रेस पर पत्थर फेंकना देश के नागरिकों को शोभा नहीं देता। लोगों को अपनी मानसिकता बदलनी होगी तभी देश का सही तरह से विकास हो पाएगा।

नीरज कुमार पाठ

बिज़नेस स्टैंडर्ड
वर्ष 11 अंक 300

मजबूत बॉन्ड बाजार

पश्चिम बंगाल के दुर्गापुर में शनिवार को एक चुनावी रैली को संबोधित करते हुए प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने 2019-20 के अंतरिम बजट की सराहना करते हुए इसे किसानों, श्रमिकों और मध्य वर्ग को सशक्त बनाने की दिशा में उठाया गया ऐतिहासिक कदम बताया। उन्होंने वादा किया कि अगर लोकसभा चुनाव में उनकी पार्टी को जीत हासिल होती है तो समाज के सभी तबकों को और अधिक लाभ प्रदान किया जाएगा। अंतरिम बजट में कई ऐसे कदम उठाए गए जो एक लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना से जुड़े हुए हैं। इन कदमों में दो हेक्टेयर रकबे वाले किसानों के लिए आय समर्थन योजना शामिल है। इस योजना के तहत देश के करीब 12 करोड़ किसानों को प्रति वर्ष 6,000 रुपये की नकद राशि प्रदान की जाएगी। सरकार ने असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों के लिए 60 वर्ष की उम्र के बाद 3,000 रुपये मासिक पेंशन मुहैया कराने की बात कही जिसमें सरकार का भी समान योगदान है। इसके अलावा 5 लाख रुपये तक की वार्षिक आय वाले लोगों को आयकर में छूट प्रदान की गई।

उल्लेखनीय बात यह है कि सरकार की इस पूरी कवायद के बावजूद राजकोषीय घाटे पर कुछ खास असर पड़ता नहीं दिख रहा। यहां व्यापक बात यह है कि क्या अत्यंत सीमित वित्तीय संसाधनों वाला देश ऐसी कल्याणकारी योजनाएं चला सकता है? इसके लिए अकेले सरकार को दोष देना अनुचित होगा। सच तो यह है कि मोदी की तारीफ की जानी चाहिए कि उन्होंने कृषि ऋण माफी जैसी कहीं अधिक नुकसानदायक योजनाओं की राह नहीं चुनी। ऐसी योजनाएं ऋण के अनुशासन को भंग करती हैं और इनसे किसानों की स्थिति सुधारने में कुछ खास सहायता नहीं मिलती। यह बात अलग है कि भारतीय जनता पार्टी ने उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र की सरकारों को विधानसभा चुनावों के मद्देनजर ऐसी घोषणाएं करने से नहीं रोका। विपक्षी दल भी इसे व्यवहार में अपनाने से पीछे नहीं हटे। कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी ने कहा है कि वह मोदी को तब तक सोने नहीं देंगे जब तक कि देश भर में कृषि ऋण माफी की घोषणा नहीं होती है। उन्होंने यह वादा भी किया है कि अगर आम चुनाव के बाद देश में कांग्रेस की सरकार आती है तो न्यूनतम आय गारंटी योजना शुरू की जाएगी।

ये तमाम वादे यही जाहिर करते हैं कि देश में ऐसे लोकलुभावनवाद का दौर आ रहा है जिसे चाहकर भी बदला नहीं जा सकता। इसके चलते देश में ऐसी राजकोषीय प्रतिबद्धताओं का दौर आ रहा है जिनका स्थायित्व काफी मुश्किल भरा हो सकता है। यकीनी तौर पर विकसित देशों में ऐसी प्रतिबद्धताओं की नाकामी का हश्र हम सब देख ही चुके हैं। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि हमारे राजनेता भी उसी दिशा में अग्रसर हैं। ऐसा लगता नहीं कि कोई ऐसी बात है जो देश के नीति निर्माताओं को ये वादे करने से रोके। एक तरह से देखा जाए तो इन योजनाओं की वास्तविक वित्तीय लागत का प्रश्न भी सामने है। उदाहरण के लिए एक सुविकसित बॉन्ड बाजार के अभाव में ऐसा कोई तरीका नहीं है जिसके तहत बाजार उच्च प्रतिफल और ब्याज के माध्यम से आपत्ति दर्ज करा सके। देश में लोगों को बॉन्ड बाजार से जोड़ने के आधे-अधूरे मन से किए गए प्रयासों को बहुत ही सीमित सफलता मिली है। राजकोषीय लोकलुभावनवाद पर नियंत्रण कायम करने के लिए एक मजबूत बॉन्ड बाजार हमारी संस्थागत आवश्यकता है। इसकी सफलता सस्ते प्रपत्रों के नकदीकरण, समूचे ऋण परिदृश्य को लेकर निवेशकों की चाह, पर्याप्त हेजिंग की व्यवस्था और व्यवहार्य प्रपत्रों की उपलब्धता और आपूर्ति पर निर्भर करेगी। चूंकि ऐसा लगता नहीं कि लोक लुभावनवाद की यह चाह निकट भविष्य में कम होगी, इसलिए भारत को बॉन्ड बाजार के विकास को लेकर अपनी प्राथमिकता तय करनी होगी।

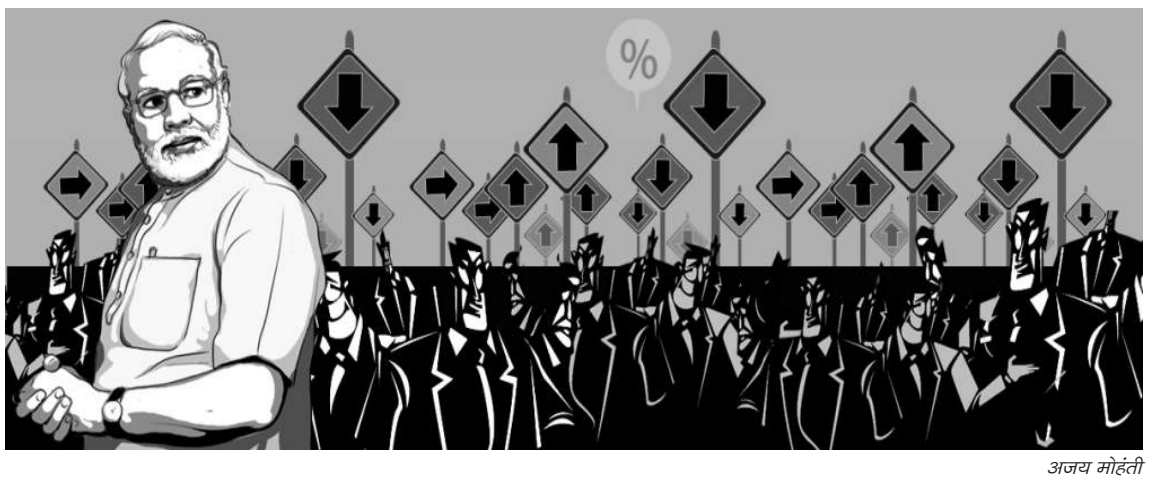

अजय मोहंती

मनमोहन के संप्रग-2 पर भारी मोदी का कार्यकाल

देश की राजनीतिक अर्थव्यवस्था को लेकर मोदी के पांच सटीक कदम यह बताते हैं कि आखिर क्यों यह जरूरी नहीं कि अच्छे आर्थिक कदम, राजनीतिक दृष्टि से बुरे ही हों।

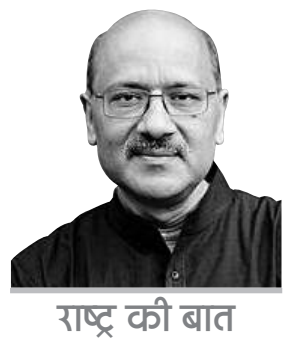

राष्ट्र की बात

शेखर गुप्ता

बीते पांच वर्ष के दौरान प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के नेतृत्व वाली सरकार के कामकाज को देखें तो आर्थिक मोर्चे पर उसका प्रदर्शन कैसा रहा, इस बारे में दो विपरीत बातें सामने आती हैं और ये पूरी तरह आपकी पसंद पर निर्भर करती हैं। एक समूह कहेगा कि आर्थिक मोर्चे पर सरकार का प्रदर्शन शानदार रहा तो दूसरा समूह यह कह सकता है कि सरकार बुरी तरह विफल रही। सरकार के प्रशंसक आंकड़ों की दलील देंगे, आलोचक इसका विरोध करेंगे। परंतु सवाल यह है कि अगर आंकड़ों से छेड़छाड़ की गई हो तो आकलन कैसे होगा? हमें दोनों ध्रुवों के विशेषज्ञों को इस मसले पर लड़ने भिड़ने देना चाहिए और मोदी सरकार के पांच साल के कार्यकाल में राजनीतिक अर्थव्यवस्था को लेकर व्यापक दृष्टि से विचार करना चाहिए।

मोदी सरकार का पांच वर्ष का कार्यकाल समाप्त होने को है, ऐसे में नजर डालते हैं पांच ऐसे आर्थिक कदमों पर जिन्हें इस सरकार ने सही ढंग से अंजाम दिया। अपनी बात पर जोर देने के लिए मैं यह दोहराता हूं कि मैं इस तस्वीर को राजनीतिक या राजनीतिक अर्थव्यवस्था के चश्मे से देखता हूं, न कि विशुद्ध रूप से आर्थिक। यही वजह है कि मेरी नजर में सबसे बड़ी सकारात्मक घटना है ऋणशोधन अक्षमता एवं दिवालिया संहिता (आईबीसी)का सफल क्रियान्वयन।

यह सही है कि अब तक केवल 12 डिफॉल्टरों को इस प्रक्रिया के अधीन किया गया है लेकिन ये 12 सबसे बड़े और ताकतवर लोग हैं। ये उस तरह के लोग हैं जिनके फोन में अधिकांश ताकतवर राजनेताओं और नौकरशाहों के नंबर स्पीड डायल में रहते हैं। जिनकी जेबों में लेनदारी की पर्ची जमा रहती हैं। परंतु तथ्य यही है कोई फोन कॉल उनको बचा नहीं सका। फिर चाहे वह एस्सार के ताकतवर रुइया ही क्यों न हों। यह एक नई तरह की राजनीतिक इच्छाशक्ति को दर्शाता है।

इसे दूसरी तरह से देखते हैं। अगर एक बार आपको पता चल जाए कि एक मित्रवत फोन कॉल आपकी मदद नहीं कर सकता है तब आप यह देश में पूंजीवाद के नए युग के साथ बरताव सीख जाते हैं। यहां अगर आपका कारोबार विफल हुआ तो दिवालिया होना तय है। पूंजीवादी व्यवस्था की मजबूती के लिए समाज को यह कड़वा सबक सीखना होता है कि नाकामी को भी स्वीकार करना होगा। हमारे देश में दिवालियापन को शर्मिंदगी का सबब माना जाता रहा है और छिपाया जाता है।

मुखर रूप से वाम-समाजवादी रुझान वाला लेकिन फोन पर मदद मुहैया कराने वाला राज्य इसमें साझेदार के समान था। मोदी सरकार ने इसका अंत किया। बड़े-बड़े कारोबारी धराशायी हो रहे हैं। यह दौर भारतीय पूंजीवाद के नए स्वरूप के उभार की वजह बन सकता है। मुझे यह राजनीतिक और सांस्कृतिक स्तर पर अनिवार्य बदलाव नजर आ रहा है।

मोदी सरकार की इस बात के लिए काफी आलोचना हुई है कि कच्चा तेल सस्ता होने के बावजूद उसने पेट्रोलियम पदार्थ के दाम ज्यादा रहने दिए। परंतु इसे लेकर उतनी हायतौबा नहीं मची जैसी संप्रग के दौर में देखने को मिलती थी। यह इसलिए क्योंकि उपभोक्ता महीने के अंत में खरीदारी के समग्र बिल को देखते हैं। मोदी के कार्यकाल में तेल कीमतें अधिक रहीं लेकिन महंगाई, खासतौर पर खाद्य महंगाई में कमी आई। मुद्रास्फीति के आंकड़ों पर कोई सवाल नहीं उठाया गया है, न ही जीडीपी की तरह उसमें कोई फेरबदल किया गया है। ऐसे में संप्रग के साथ इसकी तुलना करना उचित होगा।

सन 2014 में जब मोदी सरकार सत्ता में आई तो संप्रग-2 ने जो अर्थव्यवस्था सौंपी उसमें खुदरा महंगाई 8.33 फीसदी थी। दिसंबर 2018 में यह केवल 2.19 फीसदी है। ध्यान रहे ऐसा तब है जबकि तेल कीमतें ऊंची हैं।

मुद्रास्फीति को कम करना मोदी सरकार के अपेक्षाकृत गैर अकादमिक राजनीतिक अर्थशास्त्र की दूसरी बड़ी सफलता है। अधिकांश भारतीय सरकारें तेल कीमतें कम करने और शहरी बुर्जुआ वर्ग को शांत रखने को तरजीह देतीं।

कीमतों की राजनीति का अपना ही रहस्य है। संप्रग-1 ने किसानों के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) में लगातार इजाफा किया। इससे किसानों और कृषि श्रमिकों की स्थिति थोड़ी बेहतर हुई और सरकार को दूसरा कार्यकाल आसानी से मिल गया। दूसरे कार्यकाल में उपभोक्ता खाद्य वस्तुओं की महंगाई आकाश छूने लगी और काफी दबाव उत्पन्न हुआ। नतीजा, सरकार को हार का मुंह देखना पड़ा। मोदी सरकार के कार्यकाल में इसमें गिरावट आ रही है। इसके लिए कुछ हद तक एमएसपी न बढ़ाना वजह है। इसके अलावा बाजार की परवाह किए बिना उसने दालों की खेती को खूब बढ़ावा दिया है।

यही कारण है कि किसान गरीब होने लगे और मेहनताना कम होने लगा। महज विगत तीन फसल चक्रों से राजग ने एमएसपी बढ़ाना शुरू किया। परंतु अभी उसके असर का आकलन करना जल्दबाजी होगी। ऐसे में राहुल का यह कहना गलत नहीं कि मोदी के पांच साल के कार्यकाल में किसानों को नुकसान हुआ है।

यह कड़वी राजनीतिक हकीकत है कि जब तक उपभोक्ताओं और किसानों के हित परस्पर विरोधी होंगे, तब तक कीमतें बढ़ने और घटने पर सरकार गिरने का उतना ही जोखिम होगा। इस चक्रव्यूह से निकलने का एक ही तरीका है और वह है कृषि सुधारों को अंजाम देना। राजग सरकार ऐसा करने में पूरी तरह नाकाम रही है।

सवाल है कि मोदी सरकार ने ईंधन क्षेत्र में जो कर जुटाया, उसका क्या किया? इस प्रश्न का उत्तर इस बात में निहित है कि उसने राजकोषीय घाटा कम करने में सफलता हासिल की। मतदाताओं को विभिन्न योजनाओं में हजारों करोड़ रुपये की राशि देने के बावजूद सरकार घाटे पर काबू रख सकी क्योंकि उसे तेल से लाभ मिलता रहा।

राजमार्ग निर्माण में भारी निवेश किया गया लेकिन बंदरगाहों, सागरमाला परियोजना, पूर्वोत्तर क्षेत्र और रेलवे पर उतना ध्यान नहीं दिया गया। आंकड़े बताते हैं कि देश का बुनियादी व्यय बीते एक दशक में जीडीपी के प्रतिशत के रूप में करीब तीन गुना हो गया है। इसमें काफी कुछ बीते चार वर्ष में हुआ है।

पांच सफलताओं में से चौथी है जीडीपी की तुलना में कर अनुपालन और कर में सुधार। यह अब जीडीपी के 9 फीसदी से बढ़कर 13 फीसदी हो गया है। उच्चस्तर पर देखें तो कर अधिकारियों पर कर आतंक फैलाने का आरोप लगता रहा है। परंतु निचले और मझोले स्तर पर कर प्रशासन प्रभावी रहा है। इस स्तर पर मानव हस्तक्षेप सीमित हुआ है। अगर आप बहुत बड़े कारोबारी नहीं हैं या एजेंसियां आपके पीछे नहीं पड़ीं अथवा आप राजनीतिक पीड़ित नहीं हैं तो कर अधिकारियों के साथ आपका अनुभव बुरा नहीं होगा। पांचवीं और अंतिम उपलब्धि है वस्तु एवं सेवा कर। इसके चलते तमाम दिक्कतें पैदा हुईं, भाजपा के मूल मतदाता यानी कारोबारी वर्ग में इसे लेकर नाराजगी रही लेकिन इसे लागू किया गया।

यकीनन कई क्षेत्र ऐसे भी रहे हैं जिनमें नाकामी का सामना करना पड़ा। कृषि से लेकर निर्यात तक और विनिर्माण से रोजगार तथा सुधार रहित सरकारी उपक्रमों तक कई ऐसे क्षेत्र हैं जहां सफलता नहीं मिली। आंकड़ों में हेराफेरी तो अंतरराष्ट्रीय स्तर पर शर्मिंदगी का सबब बनी। नोटबंदी जैसी घटना को अंजाम दिया गया जिसकी विचित्रता की तुलना चीन में माओ द्वारा गौरैयों के खात्मे के प्रयास से की जा सकती है। ऐसी चीजों को लेकर तो हम शिकायत करते ही रहे हैं और करते रहेंगे। फिलहाल हम इस दुर्लभ उदाहरण को देखें जहां यह साबित हुआ है कि अच्छी अर्थनीति हमेशा राजनीतिक दृष्टि से बुरी नहीं होती। न ही इसका उलटा हमेशा सच होता है।

गोयल के पहले अंतरिम बजट में पूर्ण बजट की सारी खूबियां

दिल्ली डायरी

ए के भट्टाचार्य

यह अंतरिम बजट नहीं है। वित्त मंत्री पीयूष गोयल ने शुक्रवार को जो अंतरिम बजट पेश किया है, वह किसी भी रूप में उनके पूर्ववर्तियों- 2004 में जसवंत सिंह, 2009 में प्रणव मुखर्जी और 2014 में पी चिदंबरम द्वारा पेश किए गए अंतरिम बजट से कोई समानता नहीं रखता है। अब तक किसी भी अंतरिम बजट में ऐसी योजना की घोषणा नहीं की गई, जिसके लिए 75,000 करोड़ रुपये के सालाना खर्च का प्रावधान किया गया हो। गोयल ने प्रधानमंत्री किसान सम्मान निधि योजना की घोषणा की है, जिसमें 2 हेक्टेयर से कम कृषि भूमि वाले किसान परिवारों को हर साल 6,000 रुपये की आय सहायता दी जाएगी।

वर्ष 2015-16 की कृषि गणना के मुताबिक देश में 14.6 करोड़ कृषि जोत हैं, जिसमें से 86 फीसदी का रकबा दो हेक्टेयर से कम है। इसका मतलब है कि करीब 12.5 करोड़ कृषि जोत दो हेक्टेयर से कम की हैं। इस आंकड़े से बजट का आंकड़ा भी ज्यादा दूर नहीं है। गोयल के मुताबिक योजना से 12 करोड़ से अधिक किसान परिवारों को फायदा होगा। इन परिवारों में से करीब एक-तिहाई उत्तर प्रदेश और बिहार में रहते हैं, इसलिए ऐसी योजना के चुनावी फायदे को कम नहीं आंकना चाहिए।

पहले किसी अंतरिम बजट में पेंशन योजना की घोषणा नहीं की गई। इसमें असंगठित क्षेत्र के करीब 10 करोड़ कामगारों के लिए पेंशन योजना शुरू करने के लिए 500 करोड़ रुपये की टोकन राशि का आवंटन किया गया है। इसका लाभ केवल 15,000 रुपये से कम आय वाले कामगारों को मिलेगा। इस तरह असंगठित क्षेत्र के 25 फीसदी कामगार योजना के दायरे में आ जाएंगे।

पिछले किसी भी अंतरिम बजट में इतनी बड़ी आयकर छूट की घोषणा नहीं की गई, जितनी गोयल ने की है। गोयल ने 5 लाख रुपये या उससे कम कर योग्य आय वाले लोगों को पूरी तरह कर छूट मुहैया कराई है। उनका अनुमान है कि इसका फायदा उन लोगों को भी होगा, जिनकी सकल सालाना आय 6.5 लाख रुपये तक है। इसका फायदा अगले साल तीन करोड़ छोटे करदाताओं को हो सकता है। कुछ अन्य फायदे मुहैया कराए गए हैं। उदाहरण के लिए वेतनभोगियों के लिए मानक कटौती बढ़ाकर 50,000 रुपये की गई है। बैंक से मिलने वाले ब्याज पर कटौती की सीमा को सालाना 10,000 रुपये से बढ़ाकर 40,000 रुपये कर दिया गया है।

दूसरे शब्दों में 2019-20 के अंतरिम बजट में कम से कम 13 करोड़ लोगों और 12 करोड़ किसान परिवारों को वित्तीय राहत मुहैया कराई गई है। आय सहायता की मासिक राशि 500 रुपये महीना ही है, लेकिन इसके ज्यादातर लाभार्थी उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र में होंगे। ऐसे में यह योजना तेलंगाना और ओडिशा की नकद हस्तांतरण योजनाओं का प्रभावी राजनीतिक जवाब साबित होगी। अगर इस योजना को देश भर में ठीक से लागू किया गया तो इसका पूरे देश के सभी राज्यों और समाज के सभी वर्गों की बड़ी आबादी को फायदा मिलेगा।

इन सभी योजनाओं का कुल सालाना वित्तीय भार 99,000 करोड़ रुपये से कम नहीं होगा। ये एकबारगी दिए जाने वाले लाभ नहीं हैं, इसलिए इनका आने वाले वर्षों में भी वित्तीय भार पड़ेगा। यह राशि भारत के अगले साल के अनुमानित जीडीपी की करीब आधा फीसदी है। अंतरिम बजट को तो भूल जाएं, किसी को आसानी से यह भी याद नहीं आएगा कि हाल के वर्षों में किसी पूर्ण बजट में भी इतने अधिक लोगों के लिए इतने बड़े लाभों की घोषणा की गई हो। अगर ये पहल नरेंद्र मोदी को नई दिल्ली में सत्ता बनाए रखने के लिए आवश्यक संख्या में वोट नहीं दिला सके तो मोदी सरकार से मोहभंग और बड़ा और व्यापक होगा।

फिर भी आश्चर्यजनक बात यह है कि इन योजनाओं के बावजूद राजकोषीय हालात काबू से बाहर नहीं होंगे। वित्त वर्ष 2018-19 में राजकोषीय घाटे के लक्ष्य को संशोधित कर 3.4 फीसदी किया गया है, जिसका बजट अनुमान जीडीपी का 3.3 फीसदी था। इसी तरह वित्त वर्ष 2019-20 के लिए जीडीपी का 3.4 फीसदी राजकोषीय घाटा यह दर्शाता है कि इसमें पिछले साल के 3.1 फीसदी के आंकड़े के मुकाबले थोड़ी ही बढ़ोतरी होगी। सरकार ने हाल में जीडीपी के पिछले कुछ वर्षों के आंकड़ों को संशोधित किया है। ऐसे में अंतिम आंकड़े लक्ष्यों से अलग नहीं रहने की संभावना है।

लेकिन अब भी अंतरिम बजट के राजस्व अनुमानों को लेकर कुछ सवाल पूछे जाने चाहिए। वर्ष 2018-19 के बजट अनुमानों की तुलना में इसी वित्त वर्ष के संशोधित आंकड़ों में जीएसटी राजस्व की कमी एक लाख करोड़ रुपये बताई गई है। इसकी भरपाई बजट अनुमानों की तुलना में निगम कर में करीब 50,000 करोड़ रुपये की बढ़ोतरी, सीमा शुल्क संग्रह में 17,500 करोड़ रुपये की बढ़ोतरी और राज्यों को अनुदान एवं ऋणों में 29,000 करोड़ रुपये की कमी की बदौलत हुई है।

अंतरिम बजट के मुताबिक विनिवेश प्राप्तियां 80,000 करोड़ रुपये के लक्ष्य पर पहुंचने का अनुमान है, जो अभी तक केवल 35,500 करोड़ रुपये अनुमानित हैं। ऐसे में यह लक्ष्य हासिल करना मुश्किल काम है। अगर इन राजस्व अनुमानों में से कोई भी मार्च 2019 के अंत तक हासिल नहीं हुआ तो चालू वित्त वर्ष का राजकोषीय घाटे का अंतिम आंकड़ा चिंताजनक होगा।

बजट के आंकड़े दर्शाते हैं कि 2019-20 में विभिन्न मदों पर खर्च को नियंत्रित रखने का प्रयास किया गया है। सरकार का पूंजीगत खर्च इस साल 20 फीसदी बढ़ा है। यह अगले साल केवल 6 फीसदी बढ़ने का अनुमान है। राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कार्यक्रम और भारतीय राष्ट्रीय राजमार्ग प्राधिकरण के लिए बजट आवंटन में मामूली गिरावट आएगी। हालांकि रक्षा बजट 2019-20 में 7 फीसदी बढ़ने का अनुमान है, जिसमें इस साल 3 फीसदी बढ़ोतरी हुई है।

कुल मिलाकर मोदी सरकार के लिए गोयल का पहला बजट बहुत व्यापक नजर आ रहा है।

कानाफूसी

मनमुटाव की वजह?

क्या किसी ने इस बात पर ध्यान दिया कि केंद्रीय मंत्री हरसिमरत कौर बादल, शिरोमणि अकाली दल के मुखिया प्रकाश सिंह बादल और पार्टी के नेता सुखबीर बादल, इन तीनों में से किसी ने वर्ष 2019-20 के बजट को लेकर अपनी कोई राय जाहिर नहीं की है। यह पहला मौका है जब पार्टी ने बजट को लेकर खामोशी बरती है, इससे पहले वह बजट की तारीफ ही करती आई थीं। पिछले दिनों पार्टी के महासचिव मनजिंदर सिंह ने एक वक्तव्य जारी करके कहा था कि अगर भारतीय जनता पार्टी गुरुद्वारों के मामलों में दखलंदाजी बंद नहीं करती है तो शिरोमणि अकाली दल उसके साथ गठबंधन समाप्त करने पर भी विचार कर सकता है। यह थोड़ी अतिरंजित बात हो सकती है लेकिन इसकी शुरुआत उस समय हुई जब भाजपा ने पार्टी के सिख सदस्यों को ऐसे संगठनों में शामिल करना शुरू किया जो नांदेड़, पटना और दिल्ली समेत देश भर में गुरुद्वारों का संचालन करते हैं। ऐसी भी खबरें हैं कि केंद्र सरकार गुरुद्वारा प्रबंधन अधिनियम में संशोधन करने पर विचार कर रही है। इन बातों ने अकाली दल के नेताओं को यह मौका दिया है कि वे मुखालफत करें। उनका कहना है कि सिख अपने धर्म की रक्षा के लिए उठ खड़े होंगे क्योंकि वह उन्हें किसी भी अन्य वस्तु से अधिक प्रिय है।

आपका पक्ष

किसानों-मजदूरों को बड़ी सौगात

ससंद में वित्तमंत्री पीयूष गोयल ने वर्ष 2019-20 का बजट पेश किया। महात्मा गांधी कहते थे कि जब तक पंक्ति में खड़े अंतिम व्यक्ति को लाभ नहीं पहुंचता तब तक आपके द्वारा किया गया कार्य या उस कार्य का उद्देश्य अधूरा है। महात्मा गांधी का यह कथन बजट पेश करने के दौरान महसूस किया गया। वर्तमान सरकार ने ऐसे ही कुछ निर्णय लिए हैं जिससे समाज के निचले पायदान पर खड़े व्यक्ति जो 100 रुपये प्रतिदिन नहीं कमा पाते उनके लिए लाभकारी है। महात्मा गांधी का दूसरा कथन यह भी था कि भारत गांव में बसता है और भारत की आत्मा गांव में है। यह बजट भारत की आत्मा के लिए पूर्णत: समर्पित है। साथ ही यह बजट छोटे किसान और असंगठित मजदूरों के लिए भी समर्पित रहा जिनकी गांवों में आबादी अधिक है। आज भी गांवों में किसानों की संख्या अधिक है जिनके पास 5 एकड़ या 2 हेक्टेयर से कम भूमि है, जो किसी भी कृषि योजना का लाभ नहीं ले पाते हैं। इसकी वजह जानकारी का अभाव, शिक्षा की कमी है। वे बैंक से ऋण नहीं ले पाते हैं और न ही कोई औपचारिक ऋण की व्यवस्था होती है। शिक्षा की कमी और अज्ञानता का प्रकोप गांव में इतना ज्यादा है कि वे साहूकारों के कर्ज तले दबे रहते हैं। साहूकार जो ऋण देते हैं उसपर ब्याज की दर अधिक होती है। इससे बच्चों का भी पालन-पोषण भी ठीक से नहीं हो पाता है। बजट में किसानों को 6,000 रुपये प्रति वर्ष, हर 3 महीने में तीन किस्तों में दिए जाने का प्रावधान किया गया है। वहीं 3,000 रुपये प्रतिमाह पेंशन असंगठित मजदूरों के लिए प्रावधान किया गया है जिनकी उम्र 60 वर्ष से ऊपर हो। सरकार ने बजट में ऐसे प्रावधान कर किसानों तथा मजदूरों की बड़ी सहायता की है। यह कदम उन मजदूरों एवं किसानों के लिए अंधेरे में चिंगारी की तरह है जो उम्मीद से कहीं ज्यादा तो नहीं पर वह चिंगारी आशा जरूर देती है। यह दोनों कदम महात्मा गांधी की 150वीं जयंती के उपलक्ष्य में उनके सपनों के भारत के निर्माण में एक और कदम है ।

देवी सिंह घोषी, जैसीनगर

केंद्र सरकार ने अंतरिम बजट में किसानों और असंगठित क्षेत्र के मजदूरों को सौगात दी है

देश में बेरोजगारी की बढ़ती दर

पिछले दिनों इस समाचार पत्र में प्रकाशित खबर में देश में बेरोजगारी के बारे में पढ़ा। खबर के मुताबिक पिछले 45 वर्षों में बेरोजगारी की दर शीर्ष पर है। यह राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (एनएसएसओ) की एक रिपोर्ट के आधार पर बताया गया है। दूसरी ओर सरकार मैकिंजी की रोजगार दर वाली रिपोर्ट का हवाला देकर देश में बेरोजगारी में कमी की बात कह रही है। एनएसएसओ एक सरकारी संस्था है तथा इसकी विश्वसनीयता भी है। एनएसएसओ की जो भी कथित रिपोर्ट है अगर वह सही है तो वास्तव में देश में बेरोजगारी की दर पिछले 45 वर्षों में काफी अधिक है। सरकार को उक्त रिपोर्ट के दावे को सही ठहराने या झुठलाने के बजाय देश में रोजगार सृजन के लिए कदम उठाने चाहिए। हालांकि इस वर्ष के आरंभ में रेलवे में रिक्तियां निकालने की बात कही गई है। सरकार अगर युवा शक्ति का इस्तेमाल करे तो भारत विश्व में आगे निकल सकता है।

किशोर कुमार, नोएडा

पाठक अपनी राय हमें इस पते पर भेज सकते हैं : संपादक, बिजनेस स्टैंडर्ड लिमिटेड, 4, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली - 110002. आप हमें ईमेल भी कर सकते हैं : lettershindi@bsmail.in उस जगह का उल्लेख अवश्य करें, जहां से आप ईमेल कर रहे हैं।

जनसत्ता

हादसे की पटरी

सीमांचल एक्सप्रेस हादसे से एक बार फिर जाहिर हुआ है कि रेल सुरक्षा को लेकर समुचित उपाय जुटाने में रेल विभाग लगातार विफल साबित हो रहा है। रविवार तड़के लगभग चार बजे सीमांचल एक्सप्रेस के ग्यारह डिब्बे पटरी से उतर गए। इस दुर्घटना में सात लोगों की मौत हो गई और करीब चौबीस लोग गंभीर रूप से घायल हैं। दुर्घटना की वजहों का अभी ठीक-ठीक पता नहीं चल पाया है। मगर शुरुआती जांच में पता चला है कि रेल की पटरी टूटने या पहले से टूटी होने की वजह से यह हादसा हुआ। समझना मुश्किल है कि पटरियों की निगरानी करने वाले दस्ते को ऐसी किसी गड़बड़ी की जानकारी कैसे नहीं मिली। निगरानी दस्ता नियमित पटरियों की जांच करता है। ऐसे में अगर रेल की कोई पटरी टूटी होती या फिर उसमें कहीं कोई कमजोरी होती, तो उसे दुरुस्त करना उसकी जिम्मेदारी थी। कई बार तेज रफ्तार गाड़ियां गुजरने की वजह से पटरियों के नीचे की पट्टियों या फिर उन्हें जोड़ने वाले पुर्जों में ढीलापन आ जाता है। अगर समय रहते उसे दुरुस्त न किया जाए, तो वह हादसे की वजह बनता है। अगर पटरियों में गड़बड़ी की वजह से यह हादसा हुआ, तो निस्संदेह यह निगरानी दस्ते की लापरवाही का नतीजा था।

यह इस तरह का पहला हादसा नहीं है। हर साल ऐसी बड़ी दुर्घटनाएं हो जाती हैं। पिछले दस महीनों में यह पांचवां बड़ा हादसा है। इसके अलावा छोटे-मोटे हादसे होते रहते हैं, जिसमें मानव रहित फाटकों पर गाड़ियों से वाहनों और लोगों के टकराने से मौतें हो जाती हैं। ऐसे हादसों पर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता, जिनमें जान-माल का कोई नुकसान नहीं होता। पिछले चार सालों में रेल दुर्घटनाओं की तादाद सबसे अधिक रही है। पर फिर भी रेल महकमा इस पर काबू पाने का कोई ठोस उपाय जुटाने में विफल साबित हुआ है। ज्यादातर रेल दुर्घटनाओं के पीछे बड़ी वजह रेलकर्मियों की लापरवाही रही है। इन दुर्घटनाओं के पीछे रेल विभाग का एक तर्क यह भी रहा है कि चूंकि रेल लाइनों के सुधार का काम बहुत तेजी से हो रहा है और उसी पटरी पर से ट्रेनों को भी गुजारना होता है, इसलिए कभी-कभार ऐसे हादसे हो जाते हैं। यह तर्क विचित्र है। यों ताजा रेल बजट में दावा किया गया है कि ज्यादातर रेल लाइनों का सुधार कार्य पूरा हो चुका है, बिना फाटक की क्रासिंग अब न के बराबर रह गई हैं, रेल लाइनों के विस्तार का काम तेजी से हो रहा है। रेल सुरक्षा संबंधी उपाय काफी हद तक जुटाए जा चुके हैं। पर हैरानी की बात है कि यह हादसा कैसे हो गया।

रेल सेवाओं को विश्वस्तरीय मानकों के अनुरूप ढालने और तेज रफ्तार गाड़ियां चलाने के दावे तो खूब किए जाते हैं। बुलेट ट्रेन चलाने का भी प्रस्ताव है। पर जब रेल पटरियों को ही विश्वसनीय नहीं बनाया जा सका है, तो उन पर तेज रफ्तार गाड़ियां चलाने का सपना भला कैसे पूरा किया जा सकेगा। तमाम क्षेत्रों में, यहां तक कि टिकट बुकिंग के मामले में रेलवे भी कंप्यूटरीकृत प्रणाली अपना चुका है, पर दुर्घटना पर काबू पाने के मामले में अभी तक ऐसी प्रणाली को नहीं अपनाया जा सका है। जब तक रेल संचालन की पुरानी पद्धति छोड़ कर नई तकनीक का उपयोग नहीं होता और पटरियों को पुख्ता बनाने पर जोर नहीं दिया जाता, ऐसे हादसों पर काबू पाना मुश्किल बना रहेगा।

कबाड़ का कारोबार

अदालत की सख्ती के चलते करीब पंद्रह साल पहले प्रदूषण फैलाने वाले और अवैध रूप से चल रहे कारखानों को दिल्ली से बाहर बसाने का अभियान चला था। इसके लिए हरियाणा, राजस्थान और उत्तर प्रदेश में औद्योगिक क्षेत्र विकसित किए गए थे। दिल्ली से उजड़ कर जाने वाली औद्योगिक इकाइयों को इन इलाकों में रियायती दर पर भूखंड आबंटित किए गए थे। मगर बहुत सारे कारखाने चोरी-छिपे, नियम-कायदों को तोड़-मरोड़ कर व्याख्यायित करते हुए या प्रशासन की मिलीभगत से दिल्ली के भीतर बने रहे। ज्यादातर कल-कारखाने दिल्ली के शहरी क्षेत्र में आ गए गांवों या लाल डोरा के भीतर चलते हैं, क्योंकि उनमें शहरी क्षेत्र के नियम-कायदे लागू नहीं होते। उन्हें भवन निर्माण आदि के मामले में छूट मिली हुई है। हालांकि इसका अर्थ यह नहीं कि इन क्षेत्रों में प्रदूषण फैलाने वाली इकाइयां लगाने या ऐसे कारोबार करने की छूट है। कबाड़ का कारोबार करने वाले भी इसी तरह छूट लेते रहे हैं। इसके मद्देनजर राष्ट्रीय हरित अधिकरण यानी एनजीटी ने दिल्ली सरकार को भारी वाहनों को काट कर कबाड़ निकालने वालों के खिलाफ कदम उठाने का निर्देश दिया था, पर वह इस मामले में विफल रही। इस पर एनजीटी ने दिल्ली सरकार को फटकार लगाते हुए कहा है कि सरकार पांच करोड़ रुपए जमानत राशि जमा कराए और गारंटी दे कि वह एक महीने के भीतर इस काम को पूरा कर लेगी।

भारी वाहनों को काट कर कबाड़ निकालने का कारोबार शहर के कुछ इलाकों में बड़े पैमाने पर होता है। उनमें मायापुरी भी एक है। इन इलाकों में रिहाइशी कॉलोनियां हैं। इस तरह कबाड़ निकालने की प्रक्रिया में बड़े पैमाने पर प्रदूषण फैलता है, जो वहां रहने वाले लोगों की सेहत पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। मगर समझना मुश्किल है कि इस तरह के कारोबार को हटाने में दिल्ली सरकार को क्या परेशानी हो सकती है। इसमें न तो भारी मशीनों का उपयोग होता है और न इस कारोबार को उत्पादन का कोई भारी नुकसान उठाना पड़ता है। बस इन्हें एक जगह से दूसरी जगह विस्थापित करने की प्रक्रिया पूरी करनी होती है। फिर जब वे अवैध रूप से चल रहे हैं, तो उन्हें कहीं और जमीन मुहैया कराने की औपचारिकता भी नहीं निभानी होती। मगर सरकार ऐसे लोगों को नहीं हटा सकती, तो अंदाजा लगाया जा सकता है कि अवैध रूप से चल रहे चप्पल-जूते के कारखानों, प्लास्टिक-रबड़ और इस्पात से बनने वाली वस्तुओं के कारखानों आदि पर नकेल कसने में कहां तक सफल हो सकती है।

दिल्ली के भीतर ऐसे अवैध रूप से चल रहे कारखानों में हर साल कोई न कोई बड़ा हादसा हो जाता है, जिसमें मजदूरों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है। तब सरकार कमर कसती है कि वह इन कारखानों पर नकेल कसेगी। मगर फिर से वही प्रशासनिक शिथिलता नजर आने लगती है। दिल्ली में प्रदूषण का स्तर जानलेवा स्तर तक पहुंच चुका है। इससे पार पाने के लिए दिल्ली सरकार ने कई उपाय आजमाए, पर वे हवाई ही साबित हुए। अवैध रूप से चल रहे कारखानों को हटाने के निर्देश कई बार दिए जा चुके हैं। उनसे निकलने वाले जहरीले पानी और धुएं की वजह से किस कदर यमुना का पानी और शहर की हवा प्रदूषित हो रही है, अनेक अध्ययनों से जाहिर हो चुका है। पर हैरानी की बात है कि दिल्ली सरकार प्रदूषण फैलाने वाली इकाइयों के प्रति इस तरह नरम रवैया क्यों अख्तियार किए हुई है।

कल्पमेधा

अपने मतलब के लिए शैतान भी धर्मशास्त्र की दुहाई दे सकता है।
- शेक्सपियर

चुनौतियों के बीच दिव्यांगों का संघर्ष

देवाशीष उपाध्याय

दिव्यांगों के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण और उपेक्षा के कारण सामाजिक चुनौतियां जटिल हो जाती हैं। ऐसे में दिव्यांगों का सामाजिक रूप से आत्मनिर्भर और स्वावलंबी होना आवश्यक है। इसलिए उन्हें सामान्य शिक्षा के स्थान पर विशिष्ट शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है।

देश की आबादी का लगभग तीन प्रतिशत हिस्सा शारीरिक या मानसिक निःशक्तता और सामाजिक रवैये के कारण समाज की मुख्यधारा के साथ कदमताल करने में खुद को कमतर महसूस करता है। किसी प्राकृतिक या आनुवंशिक कारण, असंतुलन, असाध्य बीमारी, दुर्घटनावश शारीरिक-मानसिक रूप से असामान्य व्यक्ति को दिव्यांग कहा जाता है। ऐसे लोगों को जीवन निर्वहन में कदम-कदम पर कठिन चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। जबकि ये लोग सामान्य लोगों की तरह बहुमूल्य मानवीय संपदा हैं।

यह तथ्य है कि अस्सी प्रतिशत दिव्यांग गरीब परिवार से संबंधित होते हैं, जिसके कारण उनके लिए मूलभूत आवश्यकताओं, यानी रोटी, कपड़ा और मकान की पूर्ति कर पाना भी चुनौतीपूर्ण होता है। सामाजिक रवैये के कारण उन्हें कई बार उपेक्षा, उपहास और तिरस्कार का सामना करना पड़ता है, जिससे वे हीन भावना से ग्रस्त हो जाते हैं। सामाजिक रूढ़ियों, प्रथाओं, मान्यताओं और समाज में जागरूकता के अभाव के कारण दिव्यागों के प्रति अन्याय होता रहा है, जिसके कारण ये लोग दोयम दर्जे की जिंदगी व्यतीत करने को मजबूर हैं।

यों भी संविधान द्वारा सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के विधि के समक्ष समानता और समान अवसर की गारंटी दी गई है। लोककल्याणकारी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकार समाज के निशक्त, वंचित और उपेक्षित वर्ग के लिए जनकल्याणकारी योजनाओं का संचालन करती है। उनके विकास और सामाजिक सुरक्षा के लिए केंद्र सरकार ने 1995 में 'विकलांग व्यक्ति (समान अवसर, अधिकार, सुरक्षा तथा पूर्ण भागीदारी) अधिनियम' बनाया। इसके तहत दिव्यागों के सम्मानपूर्वक जीवन निर्वहन, शिक्षा, रोजगार, चिकित्सा और अधिकार आधारित समाज निर्माण की दिशा में प्रयास किया जा रहा है।

बढ़ती जनसंख्या, घटते प्राकृतिक संसाधनों के कारण मनुष्य के बीच संसाधनों की प्राप्ति के लिए कठिन प्रतिस्पर्धा का दौर चल रहा है। सामाजिक असमानता, ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी, भौतिक संसाधनों और चिकित्सीय सुविधाओं के अभाव के कारण दिव्यांगों को पर्याप्त सुविधाएं नहीं मिल पाती हैं, जिसके कारण वे समाज की मुख्यधारा में सम्मिलित होने की बजाय और पिछड़ते जा रहे हैं। इन्हें शिक्षा, रोजगार और चिकित्सा के लिए चुनौतीपूर्ण परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। एक अनुमान के मुताबिक मूलभूत आवश्यकताओं यानी रोटी, कपड़ा और मकान की पूर्ति के अभाव के कारण लगभग पैंतीस फीसदी दिव्यांग बीस वर्ष की आयु भी पूर्ण नहीं कर पाते हैं। जबकि लगभग चालीस प्रतिशत दिव्यांगों को आधुनिक चिकित्सीय सुविधा और वैज्ञानिक तकनीकी का उपयोग कर विकास की मुख्यधारा में शामिल किया जा सकता है।

दिव्यांगों को सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध कराने के लिए शैक्षिक संस्थानों और सरकारी नौकरियों में चार प्रतिशत सीटें आरक्षित करने का प्रावधान किया गया है। इसके अतिरिक्त दिव्यांगता के सात के बजाय इक्कीस वर्ग तय किए गए हैं। दृष्टिहीनता, कम नजर आना, सुनने में असमर्थता, मंदबुद्धिता और शरीर के किसी अंग के काम न करने या न होने के अतिरिक्त मस्कुलर डिस्ट्राफी, क्रोनिक न्यूरोलॉजिकल सेरेब्रल पॉल्सी, हीमोफीलिया, मल्टिपल स्कलेरोसिस, ऑटिज्म, एसिड अटैक, पार्किन्सन रोग और थैलेसीमिया को भी दिव्यांगता की श्रेणी में रखा गया है। आरक्षण और अन्य सरकारी योजनाओं का लाभ उन दिव्यांग व्यक्तियों को मिलता है, जिनके सामान्य कामकाज इन रोगों या अक्षमता के कारण चालीस प्रतिशत तक प्रभावित होता है। अगर कोई व्यक्ति किसी दिव्यांग के साथ भेदभाव, तिरस्कार या उपेक्षा करे तो कानूनन उसे छह महीने से लेकर दो साल तक की सजा और दस हजार रुपए से लेकर पांच लाख रुपए तक का जुर्माना हो सकता है। सार्वजनिक स्थलों और भवनों में दिव्यांगों के आसानी से प्रवेश के लिए रैम्प और सार्वजनिक परिवहन में भी सहायक उपकरणों और संसाधनों का प्रबंध करना आवश्यक है।

दिव्यांगों के कौशल, रचनात्मक पोषण जीवन में सुगमता के लिए सरकार शिक्षा और रोजगार का विशेष प्रावधान किया है। शारीरिक अक्षमता के प्रभावों को कम करने के लिए उच्च तकनीकी आधारित सहायक उपकरण और चिकित्सा सुविधाएं उपलब्ध कराने के लिए सरकार प्रयासरत है। दिव्यांग बच्चों के लिए 6-18 वर्ष की आयु तक मुफ्त शिक्षा के अधिकार की व्यवस्था की गई है। समुचित टीकाकरण, फीजियोथेरेपी, ऑडियोलॉजी, स्पीच थिरैपी, क्लिनिकल मनोविज्ञान, व्यावसायिक चिकित्सा, विशेष शिक्षा, शल्य क्रिया से सुधार और उपचार, दृष्टि मूल्यांकन, दृष्टि संवर्धन और आनुवंशिक विज्ञान में किए गए अद्यतन शोधों का उपयोग कर जन्मजात विकलांगता और मानसिक अपंगता के प्रभाव को कम किया जा सकता है। इसी प्रकार आकस्मिक दुर्घटना में घायलों का समय से वैज्ञानिक तकनीकी द्वारा उपचार कर संभावित विकलांगता के प्रभाव को कम किया जा सकता है।

सहायक यंत्र और उपकरण दिव्यांगता के प्रभाव को कम कर शारीरिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक पुनर्वास

में सहायक होते हैं। दिव्यांगों को प्रति वर्ष राष्ट्रीय संस्थान, राज्य सरकारें, जिला विकलांगता पुनर्वास केंद्र और गैर-सरकारी संगठनों द्वारा प्रोस्थेसिस और ऑर्थोसिस, ट्राईसाइकिल, व्हील चेयर, सर्जिकल फुट वियर और दैनिक जीवन के कार्यकलापों के लिए सहायक यंत्र, सीखने वाले उपकरण (ब्रेल राइटिंग उपकरण, डिक्टाफोन, सीडी प्लेयर, टेप रिकार्डर) कम दृष्टि के सहायक यंत्रों सहित कई यंत्र मुहैया कराए जाते हैं।

लेकिन इन सबके बावजूद दिव्यांगों के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण और उपेक्षा के कारण सामाजिक चुनौतियां जटिल हो जाती हैं। ऐसे में दिव्यांगों का सामाजिक रूप से आत्मनिर्भर और स्वावलंबी होना आवश्यक है। इसलिए उन्हें सामान्य शिक्षा के स्थान पर विशिष्ट शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है। संविधान के भाग-तीन में मूल अधिकार के अनुच्छेद 21 (क) में शिक्षा को मूल अधिकार घोषित किया गया है। निःशक्त व्यक्ति अधिनियम 1995 की धारा 26 के अंतर्गत 18 वर्ष की आयु तक के समस्त दिव्यांगो को निशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की गई है। मगर विडंबना है कि आज भी लगभग 60-70 प्रतिशत दिव्यांग निरक्षर हैं। सरकार दिव्यांगों की शिक्षा के लिए सामान्य विद्यालयों में विशिष्ट शिक्षा के साथ ही विशिष्ट विद्यालयों की स्थापना कर रही है और उन्हें समावेशी शिक्षा प्रणाली द्वारा सामान्य शिक्षा पद्धति की मुख्यधारा में लाने का प्रयास किया जा रहा है।

दिव्यांगों को सामाजिक सम्मान और प्रतिष्ठा के लिए आत्मनिर्भर होना आवश्यक है। सरकार द्वारा दिव्यांगों की सरकारी सेवाओं में हिस्सेदारी बढ़ाने के लिए विशेष सुविधाएं और अवसर दिए जा रहे हैं। दिव्यांगों के आर्थिक पुनर्वास, स्वरोजगार और निजी क्षेत्र में भी रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने के लिए कौशल विकास प्रशिक्षण दिए जा रहे हैं। दिव्यांग व्यक्तियों वाले उद्यमों के उत्पाद और सेवाओं को प्राथमिकता देने के लिए कर रियायत का प्रावधान किया गया है। दिव्यांगों द्वारा गठित स्वयं सहायता समूहों को विशेष प्रोत्साहन के साथ-साथ वित्तीय सहायता उदारतापूर्वक दिया जाता है।

दिव्यांगजन अधिकार अधिनियम- 2016 की धारा 100 के अंतर्गत हरेक संस्थान दिव्यांगजनों के लिए समान अवसर नीति का प्रकाशन करेगा। दिव्यांगता के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव करना कानूनन अपराध है, जिसकी शिकायत मुख्य आयुक्त या राज्य आयुक्त के समक्ष की जा सकती है। दिव्यांगजन को अनुसंधान का विषय नहीं समझा जा सकता है। ऐसे बच्चों को विद्यालयों में प्रवेश, शिक्षा संबंधित सभी मामलों और अधिनियम की धारा 16 और 31 के संबंध में आवश्यक कार्रवाई सुनिश्चित करने के लिए जिला शिक्षा कार्यालय में एक नोडल अधिकारी नियुक्त किया जाना आवश्यक है।

समाज के महत्त्वपूर्ण अंग और अन्य प्रकार से बेहद सक्षम होने के बावजूद दिव्यांग लोग उपेक्षाओं के शिकार होते रहे हैं। इसके बावजूद कई ऐसी शख्सियतों ने कठोर चुनौतियों का सामना करते हुए, दृढ़ इच्छाशक्ति और आत्मविश्वास के दम पर विभिन्न क्षेत्रों में बुलंदियों को छुआ है और साबित कर दिया है कि दिव्यांगता किसी को मंजिल हासिल करने से नहीं रोक सकती है। समाज भी अब उनके संघर्षमय प्रयास, महत्त्वपूर्ण योगदान और सामाजिक महत्त्व को स्वीकारने लगा है। आधुनिक वैज्ञानिक शोधों और अनुसंधानों, उन्नत तकनीकी और चिकित्सा पद्धति की सहायता से दिव्यांगता के प्रभावों को कम किया जा रहा है। दिव्यांगों की सामाजिक समानता और सम्मान के लिए सामाजिक की सोच में सकारात्मक परिवर्तन आवश्यक है, ताकि उन्हें उपेक्षा की बजाय समाज में सम्मानजनक स्थिति प्राप्त हो सके।

आभासी दुनिया में

शरद सिंह

एक परिचित मेरे घर से दुनिया के दूसरे छोर यानी सिएटल में रहती हैं। उनकी उम्र सत्तर साल के पार है। मगर उम्र के अनुपात में वे आज भी चुस्त-दुरुस्त हैं। चेहरे पर उतर आई झांइयों और ढीली पड़ती चमड़ी को अनदेखा कर दिया जाए तो वे आज भी ठीक वैसी ही दिखाई देती हैं जैसे तीस साल पहले दिखती थीं। उनकी वही छवि ही मेरी आंखों की थाती थी। भागते-दौड़ते समय में कई बार उनकी याद आई, उसी छवि के साथ। झुंझलाहट होती कि अब तो वे दैहिक रूप से बदल चुकी होंगी। शायद मोटी हो गई हों, थुलथुल या बेहद पतली, कौन जाने। पक्का था कि फिर देखूंगी तो पहचान नहीं सकूंगी उन्हें। अक्सर यही होता है। बिछड़े हुए जब कई साल बाद मिलते हैं तो उनका आकार-प्रकार सब कुछ बदल चुका होता है। मैं उन्हें 'मौसी' कहती थी। उनके इंदौर जाने तक तो आशा थी कि कभी न कभी उनसे मिलना हो ही जाएगा। फिर पता चला कि उनके पति को यानी मौसा को सिएटल के किसी कॉलेज में अतिथि शिक्षक के रूप में बुला लिया गया है और वे सपरिवार अमेरिका चले गए हैं। सिएटल उन्हें रास आ गया। उनके कई रिश्तेदार भी वहीं थे। कुछ समय बाद अचानक मौसा चल बसे। पर मौसी वहीं बस गईं। बेटे ने वहीं अपनी पढ़ाई पूरी की और वहीं नौकरी, शादी करके हमेशा के लिए सिएटलवासी हो गया। ये सारी बातें मुझे मौसी से ही पता चलीं।

हुआ यों कि एक दिन अचानक फेसबुक पर मौसी की 'रिक्वेस्ट' देख कर मैं चकित रह गई। दिल एकबारगी तेजी से धड़का और मैं अनुमान लगाने लगी कि प्रोफाइल में जो फोटो दिख रही है, वह कितनी पुरानी है! उस तस्वीर में मौसी की काफी पहले वाली ही छवि कौंध रही थी। उनकी फेसबुक वाल पर जाकर उनकी कुछ ताजा तस्वीरें देखीं तो समझ में आ गया कि वे मात्र उतनी ही बदली हैं जितनी कि उम्र ने उन्हें बदला है। वह भी बड़ी कोमलता से। उनका सिकुड़ा हुआ चेहरा अभी भी वही भाव-भंगिमा दिखा रहा था। कैलेंडर ने मानो एक झटके में कई सारे पन्ने पलट दिए और मुझे उसी रात्रिभोज वाले समय में पहुंचा दिया। एक पल की देर नहीं लगाई मैंने उनकी 'रिक्वेस्ट' स्वीकार करने में।

दुनिया मेरे आगे

इस बीच किसी समय मौसी ने मेरी एक पोस्ट को पहली बार 'लाइक' करते हुए लिखा-'हेलो, कैसी हो?' फिर उनकी अगली टिप्पणी थी-'मुझे पहचाना? मैं तुम्हारी शांता मौसी।' वहीं से हमारे बीच संवाद का सिलसिला चल पड़ा। लेकिन इसके बाद के सारे संवाद 'वॉल' से हट कर 'इनबॉक्स' में होने लगे। हमने एक-दूसरे से अपनी अब तक की जिंदगी की कई बातें साझा कीं। उन्होंने मेरा मोबाइल नंबर मांगा। इसके बाद एक सुबह अचानक उनका फोन आया मेरे मोबाइल पर- 'मैं बोल रही हूं, तुम्हारी शांता मौसी।' वही खनकती-सी आवाज। उम्र की थकन अगर आवाज में न झलकती तो कुछ भी नहीं बदला था स्वरों के उतार-चढ़ाव में।' मैंने पूछा- 'ओह, आप इंडिया कब आईं?'

'नहीं मैं भारत में नहीं हूं, सिएटल में ही हूं।' उनकी इस बात ने मुझे झेंपने पर विवश कर दिया। मैंने उनसे 'इंडिया' कहा था और उन्होंने उत्तर देते हुए 'भारत' कहा। उस पर यह मेरे लिए हर्ष मिश्रित आश्चर्य का विषय था कि वे सिएटल से मुझसे बात कर रही थीं। शायद भारत में रहने वाले उनके रिश्तेदारों को भी उनके द्वारा फोन किए जाने की इच्छा रहती होगी। जल्दी-जल्दी परस्पर ढेर सारी बातें कर डाली थीं हम दोनों ने। उस दौरान उनके द्वारा कही गई एक बात मेरे मन को गहरे तक छीलती चली गई। उन्होंने कहा- 'मैंने भारत के बहुत-से पुराने परिचितों को अपने फेसबुक में जोड़ रखा है। उनसे मुझे अपनेपन का बोध होता है, वरना यहां तो पराएपन की गंध जाती ही नहीं है। सच, दम घुटता है।'

बाद में देर तक मैं अपने मन को खंगालती रही कि मैं भी क्या उन्हें वह अपनापन दे पा रही हूं जो वे सात समंदर पार से यहां ढूंढ़ रही हैं? न जाने क्यों मुझे याद आ गई टॉम हैंक्स और मेग रायन की प्रसिद्ध फिल्म 'स्लीपलेस इन सिएटल'। हॉलीवुड की 1993 की इस फिल्म में एक विधुर पिता को उसका आठ वर्षीय बेटा एक रेडियो टॉक शो में जाने के लिए प्रेरित करता है, ताकि उसका पिता अपने लिए एक नया जीवन-साथी ढूंढ़ सके। यह कहानी याद आते ही मुझे लगा कि वह सिएटल कहीं भी हो सकता है, अमेरिका ही नहीं, भारत के छोटे-से गांव-कस्बे में भी, जहां एकाकी लोग प्रेम भरे अपनेपन के लिए सोशल मीडिया का मुंह जोहते रहते हैं। सच कहूं तो यह सच मैंने उसी दिन जाना कि सिएटल ही नहीं, बल्कि पूरी वह दुनिया अनिद्रा की शिकार है जो आंखें फाड़-फाड़ कर आभासी दुनिया में अपने लिए मुट्ठी भर प्रेम तलाश रही है। उस आभासी दुनिया में जहां सच और झूठ में अंतर करना बेहद कठिन है।

नवाचार की दरकार

हाल ही में शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत 'प्रथम' नामक एक स्वयंसेवी संगठन ने शौक्षिक स्थिति पर वार्षिक रिपोर्ट जारी की है। 'असर' नामक इस रिपोर्ट में इस बार 596 जिलों के 5.46 लाख बच्चों को अपने सर्वेक्षण में शामिल किया है जो पिछले वर्षों की तुलना में कहीं ज्यादा है। इस वर्ष की रिपोर्ट के अनुसार, शिक्षा के अधिकार को लागू करने के बाद भारत में शिक्षा की गुणवत्ता में पहली बार सुधार हुआ है, जो इस रिपोर्ट के आंशिक रूप से आंकड़ों में हुए सकारात्मक बदलाव से स्पष्ट होता है। आंकड़ों पर गौर करें तो पाते हैं कि 2012 में कक्षा पांच के 46.9 फीसद विद्यार्थी कक्षा दो की पाठ्यपुस्तक पढ़ सकते थे, उनका प्रतिशत बढ़कर 2018 में 50.5 हो गया। लेकिन इसे सापेक्षिक सुधार करते हैं न कि अपेक्षित सुधार।

शिक्षा की इस बदहाली का परिणाम है कि कुछ नामचीन राज्यों की बोर्ड परीक्षाओं में वरीयता प्राप्त विद्यार्थियों के बारे में खुलासा होता है कि उन्हें अपनी कक्षा के सामान्य प्रश्नों के जवाब भी नहीं मालूम। लेकिन उस समय ठीकरा फोड़ते हैं पेपर चोरी या लीक कराने वाले गिरोह पर; साथ ही चंद पैसों में अपने राज्य का भविष्य बेचने वाले शिक्षा विभाग के अधिकारियों पर, जिनकी मिलीभगत से यह कुकृत्य संपन्न होता है। नेपथ्य में जाने पर पता लगता है कि इनकी शैक्षणिक नींव ही इतनी मजबूत नहीं है कि अपने बूते शीर्ष स्थान प्राप्त कर सकें। ऐसी रिपोर्ट्स के जरिए बेबाक तौर पर कह सकते हैं कि केवल कानून बना कर या योजनाओं को लागू कर देने मात्र से अपेक्षित सुधार की उम्मीद नहीं की जा सकती; शिक्षा में नवाचारी तरीकों को अपनाना ही होगा। साथ ही प्रभावी शोध और अनुसंधान को प्राथमिकता देनी होगी। बाजारीकरण का दंश झेल रही वर्तमान शिक्षा प्रणाली के गिरते स्तर के कारण गुणवत्ता पर प्रश्न उठना लाजमी है लेकिन इस मुद्दे पर बहस करने को जिम्मेदार लोग तैयार ही नहीं हैं।

छियासीवें संविधान संशोधन के जरिए छह से चौदह वर्ष आयु वर्ग के बच्चों को मुफ्त व अनिवार्य शिक्षा देना एक बेहतर कदम था, क्योंकि प्राथमिक शिक्षा एक अनिवार्य मूलभूत अधिकार है। इसके अंतर्गत सर्वशिक्षा अभियान चलाया गया जिसकी आशानुरूप सफलता विद्यालयों में केवल नामांकन बढ़ने तक सीमित रही। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा देने में कोई भी सरकारी प्रयास कारगर साबित नहीं हो पाए हैं। विभिन्न राज्य सरकारों व केंद्र सरकार सहित अनेक संस्थानों द्वारा विद्यार्थियों के लिए कई कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं। इस साल नववर्ष के मौके पर छात्रों में वैज्ञानिक सोच को बढ़ावा देने की पहल करते हुए इसरो ने विद्यार्थियों के साथ संवाद कार्यक्रम शुरू किया। यह कदम सराहनीय है लेकिन ऐसे ही नवाचारी कदम हमें प्रारंभिक शिक्षा में सुधार के लिए उठाने होंगे ताकि नींव को मजबूत किया जा सके।

● *चिमन भवानी सिंह, बाड़मेर, राजस्थान*

शैक्षिक बुनियाद

देश में शिक्षा का अधिकार कानून और सर्वशिक्षा अभियान जैसी योजनाएं लागू होने के बाद भी प्राथमिक शिक्षा की गुणवत्ता नहीं सुधरी है। एक रिपोर्ट के अनुसार देश भर में आठवीं कक्षा के 28 फीसद छात्र ऐसे हैं जो कक्षा दो का पाठ तक नहीं पढ़ पाते हैं। देश में बेटियों की पढ़ाई को लेकर जागरूकता बढ़ी है, पर मध्यप्रदेश में स्कूल न जाने वाली लड़कियों की तादाद में वृद्धि हुई है। एक अन्य रिपोर्ट के अनुसार देश में आधे से अधिक बच्चे गणित विषय में बेहद कमजोर हैं। चार में से एक बच्चा एक वाक्य तक नहीं पढ़ सकता। चौंकाने वाली बात यह है कि शिक्षा का अधिकार कानून लागू होने के आठ साल बाद भी सरकारी स्कूलों में पेशेवर शिक्षकों की भारी कमी है। नतीजतन, आज प्राथमिक शिक्षा भयंकर अव्यवस्था की शिकार है। जरूरत इस बात की है कि प्राथमिक शिक्षा को सशक्त बनाया जाए ताकि बच्चों की शैक्षिक बुनियाद मजबूत हो सके।

● *चांद मोहम्मद, आंबेडकर कॉलेज, दिल्ली*

मानक तबादला नीति

सरकार के विभिन्न विभागों में कार्यरत कर्मचारियों-अधिकारियों के असामयिक और मनमाने तबादलों के समाचार अक्सर आते रहते हैं। शासन-प्रशासन के सुचारु संचालन के लिए विभिन्न स्तरों पर कर्मचारियों की तैनाती की जाती है। तबादले के बाद नई जगह पहुंचे अधिकारी-कर्मचारी को वहां की भौगोलिक व सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप ढलना होता है लेकिन देखा गया है कि जैसे ही वह स्थानीय हालात को समझ कर पूरी गति से कार्य करना शुरू करता है, उसके लिए फिर नई जगह जाने का फरमान आ जाता है। नियमित विभागीय फेरबदल और तबादलों के अलावा भी बहुत से ऐसे कारण होते हैं जिनके चलते सरकारी कर्मचारी को एक स्थान पर ज्यादा समय बिताने का अवसर नहीं मिल पाता। ऐसे कारणों में कर्मचारी की ईमानदार कार्यशैली, जो किसी स्थानीय नेता पसंद न आ रही हो, प्रमुख है। यह शासकीय सेवक के मनोबल को तोड़ने वाला होता है।

एक स्थान पर बिना पर्याप्त या निर्धारित समय व्यतीत किए अचानक तबादले से कर्मचारी के साथ-साथ उसका पूरा परिवार प्रभावित होता है। बच्चों की पढ़ाई से लेकर अचानक स्थान परिवर्तन के कारण स्वास्थ्य संबंधी चुनौतियों से भी जूझना पड़ता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए पूरे देश के लिए एक मानक तबादला नीति बनाए जाने की जरूरत है। बड़े राज्यों में प्रदेश स्तर हुए तबादले में भी एक भौगोलिक, सामाजिक व भाषाई विशिष्टता वाले क्षेत्र से शासकीय सेवक को दूसरे भौगोलिक, सामाजिक व भाषाई विशिष्टता वाले क्षेत्र में जाना होता है। यदि उसे नए क्षेत्र में कार्य करने लिए पर्याप्त समय दिया जाए तो वह स्थानीय समस्याओं को ज्यादा बेहतर तरीके से समझ कर उनका निदान कर सकेगा। तबादलों को राजनीतिक दबाव से सर्वथा दूर रखने की भी जरूरत है।

● *ऋषभ देव पांडेय, सूरजपुर, छत्तीसगढ़*

अंगदान से जीवनदान

आज हमारे देश में लाखों लोग केवल इसलिए अपना जीवन नहीं बचा पाते कि उन्हें समय पर अंगदान नहीं मिल पाता। समाज में फैले अंधविश्वास, रूढ़ियों और शिक्षा के अभाव में लोग अंगदान करने से कतराते हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में केवल 0.01 प्रतिशत लोग अंगदान करते हैं जबकि पश्चिमी देशों में यह आंकड़ा 70 से 80 प्रतिशत है। अंगदान न करने के पीछे एक बड़ा कारण लोगों की यह आशंका भी है कि कहीं डॉक्टर दान किए गए अंग को किसी जरूरतमंद को न देकर कारोबार न खोल दें! लेकिन अब बढ़ती पारदर्शिता के कारण हम अंगदान की संपूर्ण जानकारी ले सकते हैं। आज अंगदान से हर साल पांच लाख लोगों की जान बचाई जा सकती है। लिहाजा, जरूरत है केवल जागरूकता की ताकि लोग अंधविश्वासों को दूर कर अंगदान के लिए प्रेरित हों।

● *श्रीनिवास पंवार बिश्नोई, नोखा, राजस्थान*

चौपाल

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com

स्वास्थ्य पर ध्यान

दुनियाभर में करीब 42 लाख लोग सर्जरी कराने के एक महीने के भीतर मौत का शिकार हो जाते हैं. यह आंकड़ा सभी तरह की मौतों की कुल संख्या का लगभग आठ फीसदी है. एड्स, टीबी और मलेरिया के कारण भी इतने लोग नहीं मरते हैं. प्रतिष्ठित मेडिकल जर्नल 'द लांसेट' में प्रकाशित एक ताजा अध्ययन में यह भी रेखांकित किया गया है कि इन मौतों के आधे शिकार निम्न और मध्य आय के देशों में हैं जिनमें भारत भी शामिल है. सुविधाओं और गरीबी के कारण ऐसे देशों में हर उस रोगी का ऑपरेशन नहीं हो पाता है, जिसे इसकी जरूरत होती है. यदि ऐसा हो पाता, तो मरनेवालों की संख्या 61 लाख तक हो सकती है. मात्र 29 देश ही ऐसे हैं, जहां होनेवाली सर्जरी की गुणवत्ता का आकलन है. स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था में असंतुलन और आर्थिक असमानता के कारण आज धरती पर लगभग पांच अरब लोग ऐसे हैं, जिनकी पहुंच सस्ती और सुरक्षित सर्जरी तक नहीं है. गरीब और विकासशील देशों में 14 करोड़ से ज्यादा ऐसे मरीज हैं, जिन्हें ऑपरेशन की तुरंत जरूरत है, पर उन्हें यह सुविधा नहीं है.

सवा अरब से भी बड़ी आबादी को समुचित स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध कराये बिना समृद्ध भारत के सपने को साकार करना संभव नहीं है.

लांसेट ने एक अन्य आकलन के अनुसार, 88 देशों में 2030 तक स्वास्थ्य केंद्रों पर सर्जरी की सामान्य व्यवस्था के लिए 420 बिलियन डॉलर के निवेश की आवश्यकता है. इन देशों में चीन, भारत और दक्षिण अफ्रीका जैसी तेजी से उभरती अर्थव्यवस्थाएं भी हैं. यदि यह साधारण निवेश भी नहीं किया जा सका, तो विकासशील देशों को 2015 और 2030 के बीच 12.4 ट्रिलियन डॉलर तक का नुकसान हो सकता है. भारत के साथ यह विडंबना भी है कि यहां स्वास्थ्य सेवाओं के अभाव से मरनेवालों की संख्या से अधिक वैसे लोगों की संख्या है, जो खराब चिकित्सा के कारण काल के गाल में समा जाते हैं. वर्ष 2016 में 8.38 लाख बीमार उपचार के बिना मारे थे, जबकि बदहाल और लापरवाह चिकित्सा ने 16 लाख जानें ले ली थी. स्वास्थ्य सेवा की बेहतरी मोदी सरकार की बड़ी प्राथमिकताओं में रही है. मिशन इंद्रधनुष के तहत व्यापक टीकाकरण, प्रधानमंत्री जन-आरोग्य योजना के तहत गरीब परिवारों को स्वास्थ्य बीमा, अनेक अखिल भारतीय चिकित्सा अनुसंधान संस्थानों तथा डेढ़ लाख स्वास्थ्य केंद्रों की स्थापना के साथ स्वच्छता और जागरूकता बढ़ाने जैसी उल्लेखनीय पहलें की गयी हैं. स्वास्थ्य बीमा योजना जहां दुनिया की ऐसी सबसे बड़ी योजना है, वहीं टीकाकरण प्रयास को वैश्विक स्तर पर सराहना मिली है. भारत उन देशों में हैं, जो स्वास्थ्य पर सबसे कम निवेश करते हैं. चूंकि यह समस्या कई दशकों से चली आ रही है, सो इसे सुधारने में भी समय लगेगा. सरकार आगामी कुछ वर्षों में इस मद में सरकारी खर्च को दोगुना करने की कोशिश में है तथा बीमा और भागीदारी से निजी क्षेत्र का सहयोग भी लिया जा रहा है. सवा अरब से भी बड़ी आबादी को समुचित स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध कराये बिना समृद्ध भारत के सपने को साकार करना संभव नहीं है, इसलिए वर्तमान प्रयासों की गति बढ़ाने की आवश्यकता है.

किसानों को मिले दीर्घकालिक हल

आशुतोष चतुर्वेदी
प्रधान संपादक, प्रभात खबर
ashutosh.chaturvedi@prabhatkhabar.in

चुनाव की दृष्टि से ही सही, यदि हमारे किसानों को कुछ मदद मिल जाए, तो इसमें कहीं से कोई बुराई नहीं है, लेकिन अंततः किसानों की समस्याओं का दीर्घकालिक हल निकलना चाहिए.

मोदी सरकार की ओर से पेश किया गया अंतरिम बजट वैसे तो समाज के हर वर्ग को साधने वाला है, लेकिन यह छोटे किसानों पर विशेष मेहरबान है. अंतरिम वित्त मंत्री पीयूष गोयल ने बजट में किसानों, मजदूरों और मध्य वर्ग को ध्यान में रखते हुए कई घोषणाओं का एलान किया. यह मौजूदा सरकार का अंतिम बजट था. वैसे तो अंतरिम बजट में अगली सरकार चुने जाने तक के खर्च की योजना और लेखा-जोखा होता है, लेकिन इस बजट में उससे कहीं अधिक है. इस साल अप्रैल-मई में लोकसभा चुनाव होने की उम्मीद है और मई के अंत तक नयी सरकार सत्ता संभाल लेगी. जैसी कि उम्मीद की जा रही थी, लोकसभा चुनाव का असर इस बजट में स्पष्ट देखने को मिला. प्रधानमंत्री मोदी हर अवसर का लाभ उठाने में माहिर हैं और उन्होंने इस बार भी इस मौके को यूं ही जाने नहीं दिया. मोदी सरकार ने बजट के जरिये उन सभी तबकों को साधने की कोशिश की, जो चुनाव नतीजों को प्रभावित कर सकते हैं. वित्त मंत्री ने दो हेक्टेयर तक खेती करने वाले छोटे किसानों को सालाना 6000 रुपये की मदद देने की घोषणा की है. यह रकम 2-2 हजार रुपये की तीन किस्तों में सीधे किसान के खाते में जायेगी. साथ ही पांच लाख रुपये तक सालाना आय वाले मध्य वर्ग के लोगों को कर के दायरे से बाहर कर दिया. इतना ही नहीं, उन्होंने असंगठित क्षेत्र के मजदूरों के लिए पेंशन योजना भी शुरू करने की घोषणा की है, जिसके तहत 60 साल की उम्र के बाद उन्हें हर महीने तीन हजार रुपये की पेंशन मिलेगी. किसानों के लिए बजट में कई घोषणाएं की गयी हैं. बजट में कहा गया है कि मछली पालन के लिए अलग विभाग बनाया जायेगा, मछुआरों को क्रेडिट कार्ड से कर्ज पर दो फीसद तथा प्राकृतिक आपदा में किसानों को दो फीसद ब्याज की छूट दी जायेगी और समय से कर्ज लौटाने पर तीन फीसद अतिरिक्त ब्याज माफ किया जायेगा, लेकिन किसानों को हर साल छह हजार रुपये की मदद ज्यादा चर्चा में है. प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने कहा कि पहले किसान योजनाओं का लाभ केवल 2-3 करोड़ किसानों को मिलता था, लेकिन अब 12 करोड़ किसानों को मिलेगा. प्रधानमंत्री ने इसे किसानों को मजबूती देने वाला बजट बताया है. एक भारतीय परिवार में औसतन पांच सदस्य होते हैं. इस हिसाब से देखा जाए, तो इस योजना से लगभग 60 करोड़ लोग प्रभावित होंगे. चुनाव की दृष्टि से यह वोट देने वाली आबादी का एक बड़ा हिस्सा है. दिलचस्प तथ्य है कि यह योजना एक दिसंबर, 2018 से लागू मानी जायेगी और इसके तहत मिलने वाले दो हजार रुपये की पहली किस्त किसानों को 31 मार्च, 2019 से पहले दे दी जायेगी. विपक्षी नेता और कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी ने इसे किसानों के साथ मजाक बताया है. हालांकि पिछले सप्ताह ही राहुल गांधी ने सत्ता में आने पर एक न्यूनतम आय गारंटी योजना लाने का वादा किया था. मेरा मानना है कि किसानों को लोकसभा चुनावों की दृष्टि से ही सही, यदि कुछ मदद मिल जाए, तो इसमें कोई बुराई नहीं है. अमेरिका से लेकर यूरोप तक, सभी देशों की सरकारें अपने किसानों का ख्याल रखती हैं और सब्सिडी के माध्यम से किसानों की भारी मदद करती हैं, पर यह तथ्य भी है कि छह हजार हजार रुपये की आर्थिक सहायता किसानों को तात्कालिक मदद तो प्रदान कर सकती है, लेकिन यह किसानों की समस्याओं का दीर्घकालिक हल नहीं है.

पिछले एक दशक से अपने देश के किसानों की स्थिति बहुत खराब रही है. उन्हें उनकी उपज का उचित मूल्य नहीं मिल पाता है. यह हर साल का दृश्य है कि टमाटर और अन्य सब्जियों के दाम इतने कम हो जाते हैं कि किसान उन्हें सड़कों पर फेंक कर चले जाते हैं. ऐसी तस्वीरें फिर सामने आने लगी हैं. किसानों के आंदोलन मोदी सरकार के दौरान विरोध की बड़ी आवाज बने हैं. मध्य प्रदेश, राजस्थान और छत्तीसगढ़ विधानसभा चुनावों में भाजपा की हार में भी किसानों की नाराजगी एक वजह मानी जाती है. किसानों की चिंताजनक स्थिति का अंदाज इस बात से लगता है कि पिछले 10 वर्षों में देश की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले लगभग तीन लाख किसानों ने आत्महत्या की है. किसानों की सबसे बड़ी समस्या फसल का उचित मूल्य है. एक किसान अपनी फसल में जितना लगाता है, उसका आधा भी नहीं निकलता है. यही वजह है कि आज किसान कर्ज में डूबे हुए हैं. किसानों पर बैंक से ज्यादा साहूकारों का कर्ज है. यह सही है कि मौजूदा केंद्र सरकार ने न्यूनतम समर्थन मूल्य में दो गुना की वृद्धि की है, लेकिन मौजूदा समय में खेती में लागत खासी बढ़ गयी है. कुछ व्यावहारिक समस्याएं भी हैं, जैसे सरकारें बहुत देर से फसल की खरीद शुरू करती हैं. तब तक किसान आढ़तियों को फसल बेच चुके होते हैं. कृषि भूमि के मालिकाना हक को लेकर भी विवाद पुराना है. जमीनों का एक बड़ा हिस्सा बड़े किसानों, महाजनों और साहूकारों के पास है, जिस पर छोटे किसान काम करते हैं. ऐसे में अगर फसल अच्छी नहीं होती, तो छोटे किसान कर्ज में डूब जाते हैं.

जब भी किसानों का आंदोलन होता है, तब स्वामीनाथन कमेटी की सिफारिशों की चर्चा जरूर होती है. दरअसल, किसानों की समस्याओं का अध्ययन करने के लिए हरित क्रांति के जनक प्रो एमएस स्वामीनाथन की अगुआई में नवंबर, 2004 में एक कमेटी बनी थी. इस कमेटी ने अक्तूबर, 2006 में अपनी रिपोर्ट सौंपी थी, जिसमें खेती और किसानों की दशा में सुधार के लिए अनेक सिफारिशें की गयी थीं. स्वामीनाथन कमेटी की सबसे प्रमुख सिफारिश थी कृषि को राज्यों की सूची के बजाय समवर्ती सूची में लाया जाये, ताकि केंद्र व राज्य दोनों किसानों की मदद के लिए आगे आएं. स्वामीनाथन कमेटी ने बीज और फसल की कीमत को लेकर भी सुझाव दिये थे और कहा था कि किसानों को अच्छी क्वालिटी का बीज न्यूनतम मूल्य पर मुहैया कराया जाए और उन्हें फसल की लागत का पचास प्रतिशत ज्यादा दाम मिले. कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में सिफारिश की थी कि किसानों के कर्ज की ब्याज दर 4 प्रतिशत तक लायी जाए, लेकिन किसान आज भी स्वामीनाथन कमेटी की सिफारिशों को अमल में लाने की जद्दोजहद कर रहे हैं. यह देश का दुर्भाग्य है कि दशकों से हमारा तंत्र किसानों के प्रति उदासीन रहा है. अगर आप गौर करें, तो पायेंगे कि विकास की दौड़ में हमारे गांव लगातार पिछड़ते जा रहे हैं. बिजली-पानी, सड़क, शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी बुनियादी सुविधाएं शहरों में केंद्रित होकर रह गयी हैं. आजादी के 70 साल हो गये, लेकिन गांवों में बुनियादी सुविधाओं का नितांत अभाव है. गांवों का जीवनस्तर सुधरना चाहिए. विकास की प्राथमिकता के केंद्र में गांव होने चाहिए. बुनियादी सुविधा उनका हक है. हम सबको किसानों की जायज मांगों का समर्थन करना चाहिए.

समाज को हिंसक होने से रोकिए

कुमार प्रशांत
गांधीवादी विचारक
k.prashantji@gmail.com

उद्दात्त मन का समाज बनाना एक लंबी, सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रिया है, जिसमें आपको तलवार की धार पर चलना पड़ता है, गोली झेलनी पड़ती है, फिर चाहे वह ईसा हों, केनेडी हों, मार्टीन लूथर किंग हों या गांधी हों!

मुझे यह जानने में कोई दिलचस्पी नहीं है कि अलीगढ़ में अखिल भारत हिंदू महासभा के जिन लोगों ने 30 जनवरी, 2019 को महात्मा गांधी को 'सामने खड़ा करके' फिर से गोली मारने का कुत्सित खेल खेला, वे कौन थे, उनकी गिरफ्तारी हुई या नहीं और गिरफ्तारी नहीं हुई, तो क्यों नहीं हुई? कोई मुझसे पूछे, तो मैं बार-बार यह कहने को तैयार हूं कि न तो उनकी गिरफ्तारी होनी चाहिए और न उनके पीछे पुलिस छोड़ी जानी चाहिए. उन्होंने जो किया, उसके पीछे की उनकी वैचारिक दृढ़ता और अपने किये के परिणाम के सामने खड़े रहने का उनका साहस तो हमें पता ही है कि ऐसा करने के बाद वे सब भाग खड़े हुए और उनके खिलौना बंदूकबाज पदाधिकारी अब तक छिपे-भागे फिर रहे हैं. ये सब उसी परंपरा के 'वीर' हैं, जिस परंपरा के लोग 30 जनवरी, 1948 को बिरला भवन में असली नाथूराम गोडसे के साथ मौजूद थे. सभी बला के कायर थे. उनकी योजना 80 साल के बूढ़े, निहत्थे आदमी की हत्या करके वहां से निकल भागने की थी. वे भगत सिंह नहीं थे, जिन्होंने बम फेंकने के बाद वहां से भाग निकलने की चंद्रशेखर आजाद की योजना को मानने से सिर्फ इनकार ही नहीं कर दिया था, बल्कि बम फेंकने के बाद भाग निकलने का पूरा अवसर होने पर भी न भागे और न छिपे. वह वहीं खड़े रहे, नारे लगाते रहे और फिर डर से बिलबिलाते सुरक्षाकर्मियों को बताते रहे कि हमारे पास दूसरा कोई हथियार नहीं है कि जिसका तुम्हें खतरा हो, आओ और हमें गिरफ्तार कर लो! ऐसे लोगों के लिए अर्नेस्ट हेमिंग्वे ने साहस की परिभाषा गढ़ी थी- 'घोर विपदा के समय भी व्यक्तित्व का सहज सौंदर्य अक्षुण्ण रहे, यही साहस है.' और, गांधी इसलिए ही इन बहादुरों के समक्ष नतमस्तक हुए थे और कहा था कि इन नौजवानों ने मृत्युभय को जीत लिया है, जिसकी साधना मैं भी ताउम्र करता आ रहा हूं.

कायरों की अलग-अलग पहचान नहीं होती है, कायरों की जाति होती है, लेकिन मैं जानना चाहता हूं कि महात्मा गांधी कि हत्या करनेवाले 1948 के उन कायरों और 2019 के इन कायरों के नामलेवा आज कहां छिपे बैठे हैं? वे आगे आ कर इनकी पीठ क्यों नहीं ठोकते कि इन्होंने वह किया है, जो आप भी करना चाहते तो थे और करना चाहते तो हैं, लेकिन हिम्मत नहीं होती? वर्ष 1947 से लेकर 2014 से पहले तक जो लोग दिल्ली और राज्यों की कुर्सियों पर बैठे थे, उनमें से कोई भी 'गांधी का आदमी' नहीं था. जवाहरलाल नेहरू पर तो यह इल्जाम है कि आजाद भारत को गांधी की तरफ पीठ करने का रास्ता उन्होंने ही बताया और तब देश की तथाकथित बौद्धिक बिरादरी में गांधी के विचारों के प्रति उपहास का भाव पैदा किया, लेकिन उनमें इतना साहस था कि गांधी के रहते हुए भी और उनकी अनुपस्थिति में भी उन्होंने कहा कि वह गांधी-विचार में विश्वास नहीं रखते हैं और देश के विकास का उनका अपना नक्शा है, लेकिन ऐसा कहनेवाले वह अकेले नहीं थे. क्या सरदार पटेल, क्या राजेंद्र प्रसाद और क्या मौलाना आजाद और क्या दूसरे कई नेता, सबको गांधी का बोझ भारी लगता था और सबने उनसे मुक्ति पाकर राहत ही पायी थी? लेकिन एक फर्क था- बहुत बड़ा फर्क! वे सब कबूल करते थे कि गांधी का रास्ता इतना कठिन है कि हम उसके सही-गलत का विश्लेषण करने में वक्त लगाने की न तैयारी रखते हैं, न योग्यता. वे सभी गांधी नामक इंसान का गहरा सम्मान करते थे- पूजा का भाव रखते थे. हालांकि गांधी की नजर से देखें, तो ऐसे सम्मान का कोई मतलब नहीं होता है, लेकिन गांधी की नजर यदि उनके पास होती भी, तो यह खाई पैदा ही कैसे होती? जब तक नेहरू की समझ में आया कि देश को लेते हुए वह इस खाई में गहरे गर्त हो चुके हैं, तब तक बहुत देर हो चुकी थी. निःसंदेह उनकी यह देरी, उनकी यह चूक बड़ी थी, जिसकी गवाही हमारा इतिहास, पूरी मानव सभ्यता दे रही है.

यहां किस्सा एकदम ही दूसरा है. ये ऐसे लोग हैं, जो गांधी को समझने की कुव्वत ही नहीं रखते हैं, लेकिन असभ्य इतने हैं कि उनका सम्मान करने का शील भी नहीं रखते हैं. अलीगढ़ में जो हुआ, उसकी भूमिका कहां, किसने बनायी? सता की कमान जिनके हाथ में है, उनका मुखौटा हटा कर देखें, तो वे वही लोग मिलेंगे, जो हमें ऊना में मिले थे, जो बुलंदशहर मिले थे. मैं समझता हूं कि असहिष्णुता और संकीर्णता का, सांप्रदायिकता और झूठ का हर पैरोकार गांधी का हत्यारा है.

उद्दात्त मन का समाज बनाना एक लंबी, सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रिया है, जिसमें आपको तलवार की धार पर चलना पड़ता है, बाजवक्त गोली झेलनी पड़ती है, फिर चाहे वह ईसा हों, केनेडी हों, मार्टीन लूथर किंग हों या गांधी हों! समाज को हिंसक, खूंखार और संकीर्ण मतवादी बनाना बहुत आसान है. यह बच्चों के फिसलपट्टी के खेल की तरह होता है. एक बार धक्का लगा दो, बस! फिर तो वह अपने वेग से ही नीचे उतरता चला जाता है. यही देश में हो रहा है. इसे कौन, कैसे रोकेगा? ऐसे तत्वों की गिरफ्तारी जिन्हें करनी हो, वे करें, लेकिन समाज को तो इनका प्रतिकार करना ही होगा. जहां-जहां भारत में भारत के कद का इंसान रहता है, वहां-वहां यह प्रतिकार मनसा-वाचा-कर्मणा करना होगा- हमें भी और आपको भी!

आपके पत्र

67 एकड़ गैर विवादित जमीन !

आस्था की शक्ति ने हमारे देश की राजनीति को कभी धर्म से अलग नहीं होने दिया. लोगों का मानना है कि धर्म और राजनीति सिक्के के दो पहलू हैं. दुनिया के सबसे बड़े धार्मिक मेले में राजनीतिक संसद से धार्मिक संसदों तक का आयोजन इसी अवधारणा के गवाह रहे हैं. देश में गरीबी, बेरोजगारी, बीमारी और अशिक्षा से मुक्ति का मार्ग शायद कुंभ की डुबकी से निकल कर अयोध्या तक जाता हो. अयोध्या मामले में अदालत में आयी 67 एकड़ की गैर विवादित जमीन की एक अर्जी ने ऐसा बवाल मचाया कि साधु समाज से अखाड़े और सत्ता से विपक्ष तक में आगे निकल जाने की होड़-सी मच गयी. वर्षों से इस जमीन का दावेदार कोई नहीं, मगर आस्था के तुक्के पर राजनीति का तीर लगना तय है. रामजन्म भूमि की 67 एकड़ जमीन पर मंदिर बने या न बने, चुनाव के लिए सियासी जमीन का बन जाना तो पक्का है.

एमके मिश्रा, रातू, रांची

आयकर स्लैब को लेकर कई भ्रम

लोगों को ऐसा भ्रम क्यों हो गया है कि आयकर की सीमा को सीधे 2.5 लाख से बढ़ा कर पांच लाख रुपया कर दिया गया है. सच्चाई तो यह है कि सरकार ने 2014-15 के बाद से 2.5 लाख की सीमा में कोई बढ़ोतरी नहीं की है और अंतरिम बजट में भी सीमा 2.5 लाख ही है. हां, इसके बाद यदि कोई धारा 80सी के अंतर्गत 1.5 लाख का निवेश करता है और उसकी करयोग्य आय पांच लाख से अधिक नहीं होती है, तो उसे धारा 87ए के तहत 12,500 रुपये की कर छूट मिल जायेगी. उसको कोई कर नहीं चुकाना होगा. यह छूट पहले पांच हजार थी, जिसे 2017-18 में दो हजार पांच सौ रुपये कर दिया गया. बजट में अगर आयकर स्लैब को सीधे 2.5 लाख से बढ़ा कर तीन लाख भी कर दिया जाता, तो कुछ राहत होती. फिर भी मोदी सरकार को साधुवाद कि उन्होंने आयुष्मान योजना में 6400 करोड़ का आवंटन दिया, मनरेगा की राशि बढ़ाई, श्रमयोगी मानधन वृहत पेंशन योजना और किसान सम्मान निधि योजना की शुरुआत की.

पारस नाथ सिन्हा, हरमू, रांची

बेनामी संपत्ति पर अंकुश लगे

बेनामी संपत्ति भ्रष्टाचार का जरिया तो है ही, कालेधन को खपाने-छिपाने का भी स्रोत है. बेनामी संपत्ति वाले बहुत सारे लोग राजनीति में भी सक्रिय हैं. नेताओं के साथ नौकरशाह भी बेनामी संपत्ति के जरिये अपनी काली कमाई ठिकाने लगाते हैं. यदि सरकार बेनामी संपत्ति वालों पर सचमुच शिकंजा कसना चाहती है, तो उसे आयकर विभाग को आवश्यक संसाधनों से लैस करने के साथ ही यह भी देखना होगा कि बेनामी संपत्तियों के मामलों की सुनवाई के लिए न्यायिक प्राधिकरण अपनी पूरी क्षमता के साथ काम करने में सक्षम हो. अभी ऐसी स्थिति नहीं है और इसी कारण करोड़ों की संपत्ति की जब्ती के मामले भी अधर में अटके हैं. नये बेनामी कानून के तहत सरकार को एक प्राधिकरण का गठन करना था, लेकिन यह अब तक नहीं हो सका है. इससे बेनामी संपत्ति जब्ती के मामले तेजी से नहीं निबट पा रहे हैं.

डॉ हेमंत कुमार, भागलपुर

बोधि वृक्ष

सुंदर है असुरक्षा

स्वर्ग में प्रेम नहीं हो सकता. क्योंकि असल में वहां कोई जीवन ही नहीं है. जीवन यहां इस पृथ्वी पर है, जहां मृत्यु है. जब भी तुम कुछ सुरक्षित कर लेते हो, जीवन खो जाता है. असुरक्षित रहो. यह जीवन का ही गुण है और यह सुंदर है. जरा सोचो, यदि तुम्हारा शरीर अमर होता, तो वह कितना कुरूप होता. तुम आत्मघात करने के उपाय खोजते रहते. और यदि यह असंभव है, कानून के विरुद्ध है, तो तुम्हें इतना कष्ट होगा कि कल्पना भी नहीं कर सकते. अमरत्व एक बहुत लंबी बात है. अब पश्चिम में लोग स्वेच्छा मरण की बात सोच रहे है. क्योंकि लोग अब लंबे समय तक जी रहे हैं. जो व्यक्ति सौ वर्ष तक पहुंच जाता है, वह स्वयं को मारने का अधिकार चाहता है. वास्तव में, यह अधिकार देना ही पड़ेगा. जब जीवन बहुत छोटा था, तो हमने आत्महत्या न करने का कानून बनाया था. पहले लोग बड़ी आसानी से डेढ़ सौ साल तक जी सकते थे. अब सौ साल के व्यक्ति को जीने जैसा नहीं लगता. ऐसा नहीं है कि यह परेशान हो गया है, उसके पास भोजन नहीं है. सब कुछ है, पर जीवन का कोई अर्थ नहीं रह गया. अमरत्व की सोचोगे, जीवन बिलकुल अर्थहीन हो जायेगा. अर्थ मृत्यु के कारण होता है. प्रेम का अर्थ है, क्योंकि प्रेम खोया जा सकता है. तब प्रेम धड़कता है, स्पंदित होता है. प्रेम खो सकता है. तुम उसके बारे में निश्चित नहीं हो सकते. तुम उसे कल पर नहीं टाल सकते. क्योंकि हो सकता है कल प्रेम रहे ही न. तुम्हें प्रेमी या प्रेमी को इस तरह से प्रेम करना होगा कि हो सकता है कल आये ही न. फिर प्रेम सधन होता है. तो पहली बात, सुरक्षित जीवन पैदा करने के अपने सारे प्रयास हटा लो. बस यह प्रयास हटाने से ही तुम्हारे आस-पास की दीवारें गिरने लगेंगी. पहली बार तुम्हें लगेगा कि वर्षा तुम पर सीधी पड़ रही है. हवाएं सीधी तुम तक बह रही हैं. सूर्य सीधा तुम तक पहुंच रहा है. तुम खुले आकाश के नीचे आ जाओगे. सुंदर है यह, लेकिन तुम्हें अगर यह विचित्र लगता है, तो इसलिए, क्योंकि तुम कारागृह में रहने के आदी हो गये हो.

आचार्य रजनीश ओशो

कुछ अलग

गरीबी का घणा महत्व है

आलोक पुराणिक
वरिष्ठ व्यंग्यकार
puranika@gmail.com

चालू विश्वविद्यालय द्वारा गरीबी, खेती और बजट पर आयोजित निबंध प्रतियोगिता में जिस निबंध ने प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया है, वह है- गरीबी का हमारे आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन में घणा महत्व है. राजनीति में गरीबी का इतना महत्व है कि इंदिरा गांधी ने गरीबी हटाओ के नारे पर चुनाव जीता था और करीब पचास साल बाद उनके पौत्र राहुल गांधी गरीब-हित में गरीबों के लिए इनकम गारंटी की मांग कर रहे हैं. इससे पता चलता है कि नेताओं में गरीबी के प्रति गहरा क्रेज है. कुछ नेताओं में तो भय तक व्याप्त है कि अगर गरीबी खत्म हो गयी, तो फिर वे क्या खत्म करने का वादा करेंगे. एक नेता गरीबी हटाने की नीति लेकर आता है, तो दूसरा कहता है, ये तो गरीबी हटाने में हमारी नकल कर रहा है. असली गरीबी-हटावक हम ही हैं. डर यह है कि प्रतिद्वंदी पार्टी के नेता ने ही गरीबी हटा दी, तो हम क्या हटायेंगे. हर नेता चिंतित है कि कहीं गरीबी हट न जाये, काम भर के गरीब तो बचे ही रहने चाहिए, ताकि उन्हें लेकर अगले पचास साल बाद भी वादे हो सकें.

गरीबी का सांस्कृतिक महत्व है. सत्तर अस्सी के दशक में जो हिट फिल्में बनती थीं, उनमें हीरो गरीब होता था और हीरोईन अमीर होती थी. आखिर में हीरोईन हीरो की हो जाती थी, इस तरह की फिल्में देख कर बहुत नौजवान कतई आलसी टाइप हो लिये थे, वह सिर्फ अमीर कन्या से सेटिंग करने में बिजी रहते थे. इसी वजह सत्तर के दशक में भारतीय अर्थव्यवस्था की उत्पादकता निम्न स्तर पर थी और तमाम बजटों में घाटा दिखाया जाता था. अस्सी-नब्बे के दशकों में नौजवान कुछ कर्मण्य हुए और उन्हें समझ में आया कि सुंदरियां इंडियन नौजवानों को नहीं, नॉन रेजीडेंट इंडियन एनआरआई नौजवानों को लिफ्ट देती हैं. फिर भारतीय नौजवानों ने कड़ी मेहनत की और भारतीय अर्थव्यवस्था को नयी ऊंचाइयां दीं.

अब नौजवान टीवी पर न्यूज देखता है, तो उसे बताया जाता है कि वह वाली पेंशन मुफ्त मिलेगी, यह वाला भत्ता मुफ्त मिलेगा. इतनी इनकम की तो गारंटी ही है. रंगीन टीवी चुनाव से पहले वो वाली पार्टी मुफ्त में देगी और बीस किलो चावल उस पार्टी से मुफ्त आया करेगा. बिजली मुफ्त करने का वादा उस पार्टी ने कर दिया है और पानी तो मुफ्त उस पार्टी ने चला ही रखा है. मुफ्तखोरी के ऐसे महोत्सव चल रहे हैं कि अच्छा खासा कर्मठ नौजवान भी घर बैठ कर भूतों वाले सीरियल देखने में बिजी हो जाये. मांएं बेटों को कुछ काम करने के लिए डपटती हैं, तो बेटे जवाब देते हैं- मां घबरा मत, तीन हजार रुपये पेंशन वहां से आयेगी, पांच सौ रुपये वहां से आयेंगे. बच्चा होगा, तो मुख्यमंत्री गर्भवती स्त्री स्कीम में पंद्रह सौ रुपये मिलेंगे.

संभव है कि कुछ दिनों बाद नेतागण पहरा बिठा दें कि कहीं कोई नौजवान कुछ काम करके अपनी गरीबी दूर न कर ले. गरीबी दूर हो गयी, तो फिर क्या खत्म करने के वादे पर चुनाव जीतेंगे. इस तरह से हम समझ सकते हैं कि गरीबी का घणा राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक महत्व है.

देश दुनिया से

अमेरिकी राष्ट्रपति पद की हिंदू दावेदार विवादों में

तुलसी गाबार्ड की अमेरिका के राष्ट्रपति पद पर नजर बनी हुई है. लेकिन, चुनावों के दौर में औपचारिक रूप से उतरने के पहले ही तुलसी हिंदू होने के कारण विवादों में हैं. तुलसी के पास अमेरिकी कांग्रेस की पहली हिंदू सदस्य, भगवद्गीता पर हाथ रखकर अपने पद की शपथ लेनेवाली पहली प्रतिनिधि, सबसे कम उम्र की सांसद, अमेरिकन समोआ से चुनाव जीत कर कांग्रेस पहुंचनेवाली पहली महिला और युद्ध में भाग ले चुकी महिलाओं में से कांग्रेस तक पहुंचनेवाली दो महिलाओं में से एक होने का तमगा हासिल हो चुका है. अब वे राष्ट्रपति पद की रेस में उतरने वाली पहली हिंदू-अमेरिकी हैं. उन्होंने साल 2017 में सीरिया के राष्ट्रपति असद से मुलाकात करके सबको चौंका दिया था. उनकी पार्टी ने भारत के प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के साथ उनकी मुलाकातों पर सवाल उठाते हुए हिंदू राष्ट्रवाद से जोड़ने की कोशिश की थी. एक पत्रिका ने उनके पूर्व के चुनाव अभियानों में चंदा देनेवालों की सूची प्रकाशित कर कहा था कि इनमें कई हिंदू नाम हैं. इन सबके बीच गाबार्ड अपनी विवादों में घिरी छवि को साफ करने की फिराक में हैं. तुलसी के अनुसार, जिन्हें उनके हिंदू होने पर ऐतराज है, वे लोग अमेरिकी संविधान को नीचा दिखा रहे हैं.

DW

कार्टून कोना

साभार : बीबीसी

पोस्ट करें : प्रभात खबर, 15 पी, इंडस्ट्रियल एरिया, कोकर, रांची 834001, **फैक्स करें** : 0651-2544006,
मेल करें : eletter@prabhatkhabar.in पर ई-मेल संक्षिप्त व हिंदी में हो. लिपि रोमन भी हो सकती है

Kumbh Mela 2019 is much more than the unique religious-spiritua

Branding s

SHAHIRA NAIM

IN his book *Region, Nation, Heartland: Uttar Pradesh in India's Body Politic*, Gyanesh Kudaisya records signs of timelessness and a rapidly transforming India visible in the 1930 Mahakumbh. Extensive railway network brought an estimated 2.5 million pilgrims on Mauni Amavasya. The then United Provinces (UP) Government had organised 'Agriculture and Industrial Exhibition' to propagate new methods of farming and dairying. Sealed *lotas* of *Gangajal* and packets of the Ganges mud were sold as smart entrepreneurs had successfully commodified the religious experience into mementoes that pilgrims could take back home.

Ninety years down the line, the experiment to promote the Kumbh as a tourist and commercial destination has reached to an extent that on January 28, Shankarcharya of Jyotishpeeth Swami Swaroopanand Saraswati complained that the Kumbh *Mela* has been commercialised for political gains. This has resulted in the gradual fading of its divinity, he rued.

Speaking at the Param Dharam Sansad, he said, "Of late, the Kumbh has become a picnic spot for NRIs and foreigners."

Saints have demanded the creation of two separate ministries — one focusing on the pilgrimage and the other on tourism. The saints feel that mixing both is leading to deterioration of the Hindu religion. Have the *akharas* and the Kumbh remained aloof from politics? Not really, says some scholars. Akharas claim that Adi Shankarcharya started the Kumbh Mela at Allahabad in the 8th century to facilitate meeting of holy men from different regions.

The saints, organised under 13 (now 14) *akharas* (seven Shaiva, three Vaishnava, two Udasina, one Sikh and the latest one Kinnar), are intricately linked to the Kumbh. Over time, the *akharas* have evolved into martial-art bodies that protected faith from foreign invaders. In time, they have turned into armed monasteries of mystics.

Till arrival of the East India Company, the mela was managed by 'heavily militarised' *sadhus* who collected taxes, undertook policing and judicial duties and also participated in trade. The Kumbh *melas* were a scene of sectarian politics of the *akharas*, which often turned violent and had disastrous consequences. A copper plate inscription of Maratha Peshwa claims that 12,000 ascetics died in a clash between Shaivite *sanyasis* and Vaishnavite *bairagis* at the 1789 Nashik Kumbh Mela.

The dispute started over the bathing order which indicated status of the *akharas*. It was due to the frequent violent clashes that the British colonial rulers limited the warrior-trader role of the *akharas*.

The 2019 Kumbh has many firsts to its credit. Recognised by Unesco as an 'intangible cultural heritage of humanity', the Uttar Pradesh Government has left no stone unturned to brand it as a unique religious-spiritual experience, targeted at pilgrims, tourists and businesses alike.

Having a penchant for changing names, CM Yogi unilaterally announced that the 2019 Ardh Kumbh Mela, organised every six years, will this year be simply called 'Kumbh Mela'. From now, the Kumbh Mela, organ-

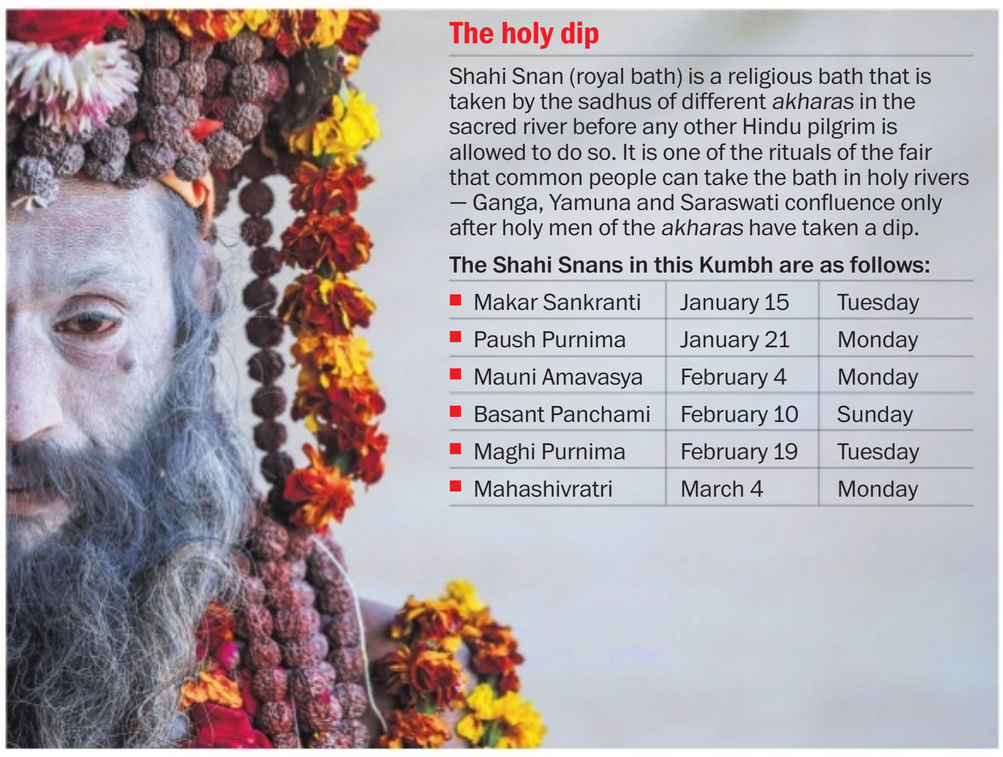

The holy dip

Shahi Snan (royal bath) is a religious bath that is taken by the sadhus of different *akharas* in the sacred river before any other Hindu pilgrim is allowed to do so. It is one of the rituals of the fair that common people can take the bath in holy rivers — Ganga, Yamuna and Saraswati confluence only after holy men of the *akharas* have taken a dip.

The Shahi Snans in this Kumbh are as follows:

Makar Sankranti	January 15	Tuesday
Paush Purnima	January 21	Monday
Mauni Amavasya	February 4	Monday
Basant Panchami	February 10	Sunday
Maghi Purnima	February 19	Tuesday
Mahashivratri	March 4	Monday

PHOTOS: AGENCIES

l experience it offers. It is equally political and commercial this time

spirituality

Myth and history

Kumbh, widely regarded as the largest religious event in the world, has a recorded history of at least 2,500 years. The festival celebrates Hinduism's myth of creation. According to a legend, demons and gods engaged in a contest to churn the ocean with a giant snake tied around a mountain. From the ocean emerged a *kumbh* (urn) filled with nectar which spilled at four geographical spots — the most sacred of these being Allahabad, now renamed as Prayagraj for it stands on the confluence of three holy rivers — the Ganga, the Yamuna and the mythical Saraswati. Yet within its ageless constancy the Kumbh also holds prophetic signs of momentous changes.

ised every 12 years, will be known as Maha Kumbh Mela!

Since time immemorial, pilgrims and saints alike have been reaching the Kumbh on the appointed date without anyone formally inviting them. However, turning host for the first time this year, Uttar Pradesh ministers visited different states of the country to personally invite governors and chief ministers. On their agenda was to invite devotees from each and every village to participate in Kumbh 2019.

According to Cabinet minister Siddharth Nath Singh, ministers have been visiting different villages to invite *gram pradhans*. Another first, the Ministry of External Affairs has invited heads of missions from different countries. On December 15, Prayagraj hosted 72 heads of mission — ambassadors and high commissioners. They witnessed preparations for the largest human congregation on earth.

On January 24, thousands of Pravasi Bhartiyas, led by Mauritius Prime Minister Pravind Jugnauth, travelled to Prayagraj by special buses from Varanasi to take a holy dip in the Sangam at the Kumbh — another first.

Uttar Pradesh Minister for Industries Satish Mahana said this year trade bodies like the CII and the FICCI would help the visiting BJP ministers and chief ministers connect with the doyens of Indian industry. Mahana maintained that the event should not be viewed merely as a ritualistic ceremony of the Hindus.

However, BJP spokesperson Rakesh Tripathi said the Kumbh should not be politicised, even if it is coinciding with the Lok Sabha elections this year.

With political parties virtually competing to prove their Hindu credentials in the year of election, it is no wonder that newly appointed Congress AICC General Secretary in charge of Uttar Pradesh (East), Priyanka Gandhi proposes to take a holy dip at Sangam soon after formally taking over office on February 4. Brother Rahul Gandhi is expected to accompany her.

On the very first day of the Kumbh on January 15, Union Minister Smriti Irani was among the first pilgrims to take a bath during the first Shahi Snan on the occasion of Makar Sankranti.

By offering prayers at the Sangam on January 18, President Ram Nath Kovind became the first President after Dr Rajendra Prasad to visit the Kumbh Mela. Dr Prasad had visited the Kumbh in 1953. On January 29, Chief Minister Yogi Adityanath held a cabinet meeting at the Kumbh. After that the entire cabinet took the ritual bath at the Sangam and had lunch at the Nath sect camp, of which Yogi Adityanath is the spiritual head.

THE POLITICS OF KUMBH

The mela this year has many firsts to its credit. From its name change to MEA personally inviting heads of missions from different countries to ministers calling up *gram pradhans* to trade bodies like the CII and the FICCI making it to connect with the industry, it is much more than the dip of faith

Standard deviations

Delay in releasing key employment data has undermined the credibility of data officialdom

The resignations of the National Statistical Commission's acting Chairperson P.C. Mohanan and member J.V. Meenakshi appear linked to the Centre's refusal to release new data on employment that were due to be made public in December 2018. They could also be related to unease about the recently unveiled back-series data on the economy, which recorded slower growth during the UPA-led government's rule, and were released by the NITI Aayog bypassing convention and the commission's views. Reports suggest that the findings of the new Periodic Labour Force Survey, for July 2017-December 2018, are not too flattering, with unemployment registering a five-decade high. The government has said no such reservations were expressed by Mr. Mohanan or Dr. Meenakshi during NSC meetings and that the report will be released after 'quarterly' data for the survey period is processed. A key role of the NSC, set up in 2006, is to verify whether data being put in the public domain are reliable and adequate. Information has been collected and disseminated by successive governments under laid-down schedules, earning Indian data greater global trust than most other emerging market peers, especially China.

On the question of job-creation for the youth, the Prime Minister and his Cabinet have been building an argument that jobs abound, but credible data are missing. The National Sample Survey Organisation's quinquennial employment surveys were to be conducted in 2016-17. The year was switched to 2017-18 as the new Labour Force Survey was being prepared to replace it. Separately, a quarterly survey of select employment-intensive sectors initiated by the Labour Bureau after the 2008 global financial crisis, that provided some clarity on ground realities, was inexplicably junked. Instead, proxy data from enrolments into social security schemes for formal sector employees are being touted as a sign of job-creation: economists have rightly called them out as inaccurate. Even then, Arun Jaitley, in his last year's Budget speech, cited 'an independent study' to claim seven million formal jobs will be created in 2018-19. The Centre for Monitoring Indian Economy has pegged job losses in 2018 at 11 million based on its regular employment surveys. The government's coy approach to jobs-related data may be due to its disastrous demonetisation gambit which hurt supply chains and informal jobs in the economy and whose effects have lingered. Contrast this with the NSSO surveys of 2009-10 that revealed little good news on household incomes and job-creation, thanks to after-effects of the global financial crisis. The UPA didn't dither from releasing the data, took criticism on its chin, explained it was an exceptional situation and commissioned another set of surveys in 2011-12 to correct for the timing. The Modi government should have treaded the same path without upending India's statistical integrity.

Hawkish move

The U.S.'s unilateral withdrawal from a nuclear treaty threatens to kick-start a new arms race

The Donald Trump administration's decision to withdraw from the Intermediate-Range Nuclear Forces (INF) treaty with Russia is a retrograde step. Signed in 1987 by Ronald Reagan and Mikhail Gorbachev, it barred both countries from deploying land-launched cruise missiles in the 500- to 5,500-km range. However, Russia appears to have been covertly violating it in letter and spirit. The U.S. in 2008 expressed concern over the Russian Novator 9M729 missile tests and in 2014 alleged that Moscow was testing a ground-based cruise missile. Yet, the U.S. response cannot be regarded as purely retaliatory. Both Mr. Trump and his National Security Adviser John Bolton are on the record expressing what some consider to be a sense of disregard for arms control agreements. Before taking up the NSA role, Mr. Bolton said in his book that the U.S. "arms control theology" had been "kept on life support during the Clinton presidency by devotion and prayer rather than hard reality". Mr. Trump, who scuppered the nuclear agreement with Iran, has hinted he would refuse to abide by a treaty that other parties were disregarding. There is now a sense of alarm that the New Strategic Arms Reduction Treaty (START), which limits both countries' arsenal of intercontinental ballistic missiles, and will lapse in 2021, might be scrapped next.

At the heart of this worrisome echo of the Cold War years is the changing balance of power in global nuclear politics heralded by China's rise as a regional hegemon; its growing arsenal poses a threat in the eyes of strategists in Washington. In 2018, the U.S. Nuclear Posture Review noted that Beijing was steaming forward with the expansion of its cruise-missile arsenal, potentially neutralising the capability of American warships that could seek to approach the Chinese coastline during a standoff. Shifting geo-politics also requires that European concerns be factored into strategic discussions on the INF, particularly because it is Europe that is most immediately threatened by the Russian stockpile. However, going by the surprised reactions from European officials, it appears that Mr. Trump may not have consulted with European allies before announcing the suspension of the treaty. Mr. Trump's thinking may rest on the fact that he could now develop ground-launched missiles, and perhaps keep Moscow's aggression in check through a military-posture superiority, and also save the exchequer some cash, for this option is cheaper than cruise missiles that can be fired from aircraft, ships, or submarines. Nevertheless, in pulling out of the INF, Washington is effectively throwing away leverage it may have had with Russia on an issue of global concern.

Legitimacy of the basic structure

The doctrine may be derived from the abstract. But it exists within the Constitution itself

SUHRITH PARTHASARATHY

It has now been more than 45 years since the Supreme Court ruled in *Kesavananda Bharati v. State of Kerala* that Parliament's power to amend the Constitution was not unlimited, that the Constitution's basic structure was infrangible. But as entrenched as this doctrine might now be, it remains, to some, a source of endless antipathy. There have already been grumblings over the rule's legitimacy in certain quarters in response to challenges made to the recently introduced 103rd Constitutional Amendment, which provides for reservations based on economic criteria in government jobs and education.

Unwarranted censure

The common criticism is that the doctrine has no basis in the Constitution's language. The phrase "basic structure", it's argued, finds no mention anywhere in the Constitution. What's more, beyond its textual illegitimacy, its detractors also believe the doctrine accords the judiciary a power to impose its philosophy over a democratically formed government, resulting in something akin to what Union Minister Arun Jaitley once termed as a "tyranny of the unelected".

Unquestionably, some of this censure is a result of the Supreme Court's occasionally muddled interpretation of what the Constitution's basic structure might be. But to reject the doctrine altogether because the judiciary sometimes botches its use is to throw the baby out with the bathwater. For not only is the basic structure canon legally legitimate, in that it is deeply rooted in the Constitution's text and history, but it also possesses substantial moral value, in that it strengthens democracy by limiting the power of a majoritarian government to undermine the Constitution's central ideals.

Ever since the Constitution was first amended in 1951, the true extent of Parliament's power to amend the document has been acutely contested. But the dangers inherent in granting untrammelled power to the legislature were perhaps best brought out in a lecture delivered by a German professor, Dietrich Conrad. His talk "Implied Limitations of the Amending Power", delivered in February 1965 to the law department of the Banaras Hindu University, came at an especially fraught time. Only months earlier Parliament had introduced the contentious 17th Constitutional Amendment. Through this, among other things, a number of land reform legislations had been placed into the Constitution's Ninth Schedule. This meant that those laws, even when discriminatory, were immunised from challenge.

But it wasn't the merit of the amendment that troubled Conrad. He was concerned with the suggestion that Parliament's power to alter the Constitution was plenary. Influenced by the theoretical scholarship of the jurist Carl Schmitt, Conrad believed that even if a legislature were bestowed with the widest of powers to amend the Constitution, its authority was always subject to a set of inherent constraints. Parliament, he contended, was, after all, a creature of the Constitution. It could not, therefore, make changes that had the effect of overthrowing or obliterating the Constitution itself.

As A.G. Noorani has pointed out, Conrad was affected by his own country's history. In Germany, the virulent end brought to the Weimar Republic by Nazism had meant that when the country adopted its Basic Law in 1949, it quite explicitly placed checks on

GETTY IMAGES/ISTOCKPHOTO

the legislature's powers. This included a bar on lawmakers from amending those provisions of the Basic Law that concerned the country's federal structure, that made human rights inviolable and that established constitutional principles such as the state's democratic and social order.

Questions to ponder

In his lecture, Conrad said India hadn't yet been confronted with any extreme constitutional amendment. But jurists, he warned, ought to be mindful of the potential consequences inherent in granting Parliament boundless power to change the Constitution. How might we react, he wondered, if the legislature were to amend Article 1, for example, by dividing India into two. "Could a constitutional amendment," he asked, "abolish Article 21," removing the guarantee of a right to life? Or could Parliament use its power "to abolish the Constitution and reintroduce... the rule of a Moghul emperor or of the Crown of England?"

Although it was delivered to a limited audience, M.K. Nambyar, who was to soon lead arguments in the Supreme Court against the 17th amendment in Golaknath's case, was alerted to Conrad's urgings. Devoid of any direct precedent from other Commonwealth nations, where an amendment had been subject to the rigours of judicial review, Nambyar thought the German experience carried with it a set of important lessons. Were Parliament's powers considered infinite, he argued, the parliamentary executive can be removed, fundamental rights can be abrogated, and, in effect, what is a sovereign democratic republic can be converted into a totalitarian regime.

Interpreting 'amendment'

The court, in *Golaknath*, didn't' quite feel the need to go this far. But, ultimately, just four years later, in *Kesavananda Bharati*, it was this formulation that shaped Justice H.R. Khanna's legendary, controlling opinion. While the judge conceded that it wasn't possible to subscribe to everything in Conrad's arguments, this much, he said, was true: "Any amending body organized within the statutory scheme, howsoever verbally unlimited its power, cannot by its very structure change the fundamental pillars supporting its Constitutional authority." Yet, the limitation, wrote Justice Khanna, wasn't as much implicit from a reading of the Constitution as a whole as it was evident from the very meaning of the word "amendment". According to him, what could emerge out of an amendment was only an altered form of the existing Constitution and not an altogether new and radical Constitution.

This interpretation, as Sudhir Krishnaswamy has shown, in some depth, in his book, *Democracy and Constitutionalism in India*, is compelling for at least two reasons. First, it represents a careful reading of the text of Article 368, and, second, it delivers an attractive understanding of the moral principles that anchor the Constitution. Article 368 grants Parliament the power to amend the Constitution, making it clear that on the exercise of that power "the Constitution shall stand amended". Therefore, if what has to remain after an amendment is "the Constitution", naturally a change made under Article 368 cannot create a new constitution. Such a construal is also supported by the literal meaning of the word "amendment", which is defined as "a minor change or addition designed to improve a text". Hence, for an amendment to be valid, the constitution that remains standing after such a change must be the Constitution of India; it must continue to possess, in its essence, those features that were foundational to it even at its conception.

Now, consider Conrad's extreme example: were an amendment to be introduced relinquishing control over India to a foreign power, would it not result in the creation of a constitution that is no longer the Constitution of India? Would not such an amendment strike at the root of the Constitution's Preamble, which, in its original form, established India as a sovereign democratic republic? On any reasonable analysis it ought to, therefore, be clear that the basic structure doctrine is not only grounded in the Constitution's text and history, but that it also performs an important democratic role in ensuring that majoritarian governments do not destroy the Constitution's essential character.

We must remember that constitutions are not like ordinary laws. Interpreting one is always likely to be an exercise fraught with controversy. But such is the nature of our political design that the court, as an independent body, is tasked with the role of acting as the Constitution's final interpreter, with a view to translating, as Justice Robert H. Jackson of the U.S. Supreme Court once wrote, abstract principles into "concrete constitutional commands". It may well be the case that the basic structure doctrine is derived from the abstract. But that scarcely means it doesn't exist within the Constitution.

Suhrith Parthasarathy is an advocate practising at the Madras High Court

Afghanistan at a crossroads

Any agreement between the Taliban and the U.S. at the expense of the Afghan government and people is doomed to fail

DAVOOD MORADIAN

Afghanistan is seeing growing national, regional and global attempts to seek a peaceful settlement to the conflict. The U.S. is desperate to extricate itself from the war, heightened by an unpredictable President and an ambitious negotiator, Zalmay Khalilzad. This desperation is matched by growing fears in Afghanistan that the Taliban will seek to overthrow the government, as it did in 1994, and that the government, the political class and the democratic constituency will be betrayed by a hasty deal between a desperate U.S. and an overconfident Pakistan. Desperation, fear and hubris may produce a peace agreement, but such an agreement may not bring inclusive and sustainable peace.

Key questions

Addressing the main drivers of the conflict are the principal tenets of any sustainable peace settlement. The causes of the Afghan conflict are religious, ethnic and external in nature. The conflict has been fought over the identity, legitimacy and sovereignty of the Afghan state and society: Should it be a Pashtun-dominated entity or a pluralistic state? Is an Islamist/theocratic emirate a true identity of the nation or a constitutional republic? Should it be a puppet state of Pakistan or a sovereign and independent state? Should it be a representative or plutocratic state?

There have been numerous peacemaking efforts and agreements since the beginning of the conflict in 1979. The leftist Najibullah Ahmadzai, the Mujahideen-led government of Burhanuddin Rabbani, and the Western-installed governments of Hamid Karzai and Ashraf Ghani all pursued political settlements based on the principles of power-sharing and democratic governance but failed.

Since its formation in 1994, the Taliban has remained consistent in its ambition of total victory and establishing "a pure Islamic government". The Taliban is not primarily a nationalistic insurgency fighting a foreign occupation, but an ideological movement determined to re-establish a political order that is in alignment with Pakistan's geo-strategic ambitions. The presence of international troops is an obstacle to the Taliban's goal.

The key questions are (a) whether the Taliban's goal of establishing a "pure Islamic government" is compatible with the principles of pluralism, power-sharing and election-based politics; (b) whether Pakistan will accept a sovereign, independent Afghanistan; (c) whether the potential peace settlement is to be built upon the fragile achievements in the fields of state-building, democratisation, pluralism and connectivity; and (d) whether there will be an effective guarantee and mechanism for ensuring the sustainability of any peace agreement.

GETTY IMAGES/ISTOCKPHOTO

The role of the U.S.

In March 1979, the U.S. began covertly supporting the Mujahideen via and with Pakistan through 'Operation Cyclone'; it has remained a party to the conflict ever since. However, the U.S.'s Afghan policy has been driven by instinct rather than deliberation. Its current peace efforts are mainly driven by Washington's selfish instincts and ever-changing moods rather than the realities on the ground, particularly the role of the Afghan government and people. U.S. President Donald Trump follows his predecessors in changing the goalposts from conditions-based engagement to cater to the U.S.'s domestic impulses and/or emerging geopolitical attractions.

Neither the current military environment nor the political structure is conducive for a sustained peace process. Unlike the Afghan and the coalition forces, the Taliban is not militarily and politically exhausted and/or desperate. The leadership of the Taliban and their Pakistani enablers have more stamina, resources and reasons to be hopeful of total victory. Their confidence has been reinforced by the Trump administration's 'all bark no bite' approach in dealing with Pakistan.

The Afghan presidential election, in which 17 candidates from different political backgrounds have registered to compete, is scheduled to take place in July. The speedy talk between the U.S. and the Taliban has created a parallel process in competition with the planned presidential election. Many in Kabul rightly fear that the U.S. may sacrifice Afghanistan's nascent democracy and sovereignty to attain its objectives.

Any agreement between the Taliban and the U.S. at the expense of the two principal stakeholders – the Afghan government and the people – is doomed to fail. The Afghanistan of 2019 is fundamentally different from the Afghanistan of the 1990s. Despite many shortcomings, the state of Afghanistan enjoys significant capacity and legitimacy and is endowed with a formidable and growing national security force. On the other hand, both Pakistan and the Taliban remain despised and distrusted by an overwhelming majority. In 2018, the Asia Foundation's annual Afghanistan survey and the nationwide survey conducted by the Afghan Institute for Strategic Studies found that over 90% of the population do not support the Taliban's cause.

In the words of the Taliban, Afghanistan is "the school of jihad" for jihadists around the world. Therefore, any arrangement with the Taliban would have direct implications for other violent Islamist groups. Separating the Taliban from wider global Islamist movements is the product of Western political duplicity and intellectual naivety.

A trilateral agreement involving Pakistan, the U.S., and the Taliban's Quetta Shura will not be acceptable to other stakeholders in Afghanistan and the region. Inclusivity, realism, sustainability and Afghan ownership should drive the efforts for the peace settlement. For this to succeed, India should join other like-minded and concerned stakeholders to ensure that Afghanistan moves forward rather than be forced to return to the dark age of the 1990s.

The people of Afghanistan want a peaceful, pluralistic and prosperous country. The Taliban can have a role and a place in building and living in such a polity, similar to other Afghan citizens or political groups. A peaceful and prosperous Afghanistan, a peaceful and developed region, and the defeat of the ideology of violent Islamist groups are all interlinked.

But the people of Afghanistan should not be forced to choose between an imposed peace or independence and a constitutional order. An imposed peace will achieve brief victory for one party, but cause long-term suffering and will eventually break down.

Davood Moradian is Director General, Afghan Institute for Strategic Studies, Kabul

LETTERS TO THE EDITOR

Letters emailed to letters@thehindu.co.in must carry the full postal address and the full name or the name with initials.

Detained in the U.S.

It is unfortunate that some students and their agents are spoiling the name of India by resorting to fraud and unethical means in getting U.S. student visas (Page 1, "U.S. visa fraud: India demands release of students", February 3). A student visa to the U.S. is much coveted as it opens the door to quality education and, possibly, a well-paying job. This has led unscrupulous individuals, sometimes in collusion with institutions, to defraud the system. It is necessary for parents and students to be vigilant and not give room to acts that bring disrepute to the country and the system.

D.B.N. MURTHY,
Bengaluru

The CBI gets a Director

The controversy over the selection of the new CBI Director is a continuation of the cold war that refuses to dissipate over the posting of a Director to head the premier investigating agency as well as the intransigent stand of the government, which is bent upon having its own way irrespective of the consequences of not having an independent institution.

V. PADMANABHAN,
Bengaluru

■ The dissent by Congress leader Mallikarjun Kharge is not surprising as he, just like his leader and Congress president Rahul Gandhi, will always be dissenting, attacking and accusing the government on everything that it does. When the Chief Justice of India was also one of the committee members who cleared the name of the new appointee, Mr. Kharge's dissent has no value.

V.S. GANESHAN,
Bengaluru

Guide to leadership

One of the essential qualities that our leaders should have is the ability of succession planning ('ColumnWidth' page, "What qualities should we expect from our leaders?", February 3). In most of our political parties, the assumed and presumed next lines of leadership are family members of leaders. In certain cases, it is a case of "After me, the deluge". Leaders in all spheres should have the acumen, foresight and selfless courage to encourage and develop the best among their followers to take up their mantle when the situation warrants this. For this to happen, we must have leaders with unimpeachable integrity, rectitude and patriotism. Unfortunately, India has seen leaders equating themselves with the country.

C.G. KURIAKOSE,
Kothamangalam, Kerala

Herbal formulation

The report on the siddha drug, *Nilavembu kudineer*, showing antiviral activity and immunomodulation was interesting ('Science & Technology' page, "*Nilavembu kudineer* kills dengue virus, protects from chikungunya", February 3). If anything, it reinforces a fact of singular importance in medical research – the urgent concerns of clinical care and the 'trial and error' experiences that these concerns beget that have

Imagining alternative futures

Why the Young India Adhikar March calls for greater civic solidarity

DEBADITYA BHATTACHARYA & RINA RAMDEV

GETTY IMAGES

The caricaturing of scientific inquiry at the recent Indian Science Congress (ISC) is only symptomatic of the larger ideological thrust through which institutions of higher education in India are now sought to be governed. Further, the choice of venue for the ISC this year – a private university in Punjab – highlights the boost that investors of private capital in higher education receive even as funding cutbacks at public universities have threatened the closure of 167 centres for women's studies and 35 centres for studies in social exclusion. That a proposed Jio Institute was granted the 'Institute of Eminence' status much before it could even open is a grim reminder of state support now being unambiguously willed upon the private model.

It is the same political imperative that is directing public-funded institutions towards 'graded autonomy' – duly recognised as a covert entry point for privatisation. The threat to autonomy is writ large in the recent moves to scrap the University Grants Commission (UGC) as a funding body for higher education, in keeping with the World Trade Organisation's mandate that views education as a tradable commodity, not as a right that every citizen can demand of the state.

Right versus privilege

In 2015, the UGC, citing a fund crunch, resolved to scrap the non-NET fellowship altogether. After student protests across universities (hashtagged on social media as 'Occupy UGC'), articulated how research fellowships were not state doles but instead sought to incentivise knowledge creation, the government was forced to retract the move. But soon after, the release of similar non-NET fellowships for Scheduled Castes/Scheduled Tribes and minority students – namely, the Rajiv Gandhi National Fellowship and Maulana Azad National Fellowship – came to be stalled, pending a new set of guidelines that severely curtailed eligibility.

The Ministry of Human Resource Development's All India Survey on Higher Education (AISHE) Report 2017-18 notes that the Gross Enrolment Ratio across institutions of higher education has risen to 25.8% from 19.4% in 2010-11. The GER is an index of the proportion of citizens between 18 and 23 years – in every sample size of 100 – who have structurally secured entry into tertiary education, while exit figures (dropouts) are left unaccounted for.

The inflationary tendencies of AISHE figures notwithstanding, the report points out that the GER is 21.8% for SCs and 15.9% for STs "as compared to the national GER". However, deeper scrutiny shows that though the standard formula for calculating GER must take the population census in the relevant age group as the base sample size, the GER for Dalit-Adivasis is produced by altering the methodology.

Instead of taking the Census total as base figure, it is the fractional enrolment count that is used to produce fictions of inflated SC/ST GER. When population data (Table 38 of the report) is read in consonance with enrolment data (Table 14), the arithmetic shows a GER of 3.72% for Dalits and 1.35% for Adivasis. But in an identical age sample of 100 students, a minimum of 17 are from Dalit backgrounds and nearly nine from Adivasi communities. In actual terms, therefore, less than four out of 17 SC students and one out of every nine ST students appear to have entry-level access to higher education. The GER for minority students from non-Hindu backgrounds is a meagre 1.87% (against the official 7.2%). Analysed against Census 2011 data, less than two out of every 20 minority students move to tertiary education. Ironically, the enrolment ratio for Hindu upper castes is 8.47%, implying that more than eight out of every 10 caste Hindus access higher education. The government's recent electoral gimmick of enabling 10% reservation in educational institutions for "economically weaker" upper-caste sections only performs a complete inversion of affirmative action policies, especially when documented data point to an entrenched legacy of caste-based discrimination.

The withdrawal of non-NET fellowships for the socially marginalised (accompanied by reservations for dominant caste groups) is informed by a policy transition from a public-funded model of inclusive economic planning to a private user-pay principle. It follows from the reform measures proposed by the Ambani-Birla Report on higher education (2000), and subsequently vindicated by the National Knowledge Commission's emphasis on "need-blind admissions" in higher education. The assumption behind a near-complete withdrawal of research funding begins by linking the quest for higher knowledge with an illusion of proportionately higher employment opportunities. But the reality is that with unemployment rates soaring to a 45-year high, the government's disinvestment from the higher education sector can only end up creating a highly skilled, lowly paid, indebted workforce.

The AISHE report contains traces of more statistical falsification – adjusting "growth" in the number of teaching positions by changing the base year for comparison (to 2010-11 from 2013-14). As the report shows (Table 51), there is a sharp annual decline in the number of teachers employed since 2015-16. In the past three years, teaching strength in higher education institutions has fallen from 15.19 lakh to 12.85 lakh, with most of the losses reflected against reserved permanent posts. The move to a 13-point roster in appointments will only aggravate these losses, till teaching becomes an exclusively upper caste profession. Alarmingly, through this period of reduction in teaching jobs, 104 new universities have been instituted, 66 of which are "privately managed". It is no surprise that many of the brightest minds from the best public institutions are now lapped up by elite private universities "equipped with world-class infrastructure".

A pushback

It is clear that a nationalist crusade is only mortgaging public education systems to transnational capital. This is also articulated in the "impatience" that Amartya Sen spoke about in the context of the recent ISC, an impatience that is fomenting student unrest in campuses. It is the same impatience – in the form of anger at being sidelined by iniquitous government policies that are supplanting the vision and promise of the public university – which is fuelling the student-led 'Young India Adhikar March' (to be held on February 7). In the last year or so, one has seen collective rights assertions in the form of well-publicised rallies by farmers, the marginalised and women – all signs of the anger of different constituencies reeling under the policies of an indifferent government. The 'Young India Adhikar March' is a representation of over 40 youth organisations demanding, among other things, an end to fee hikes, gender discriminatory laws, a syllabus free of "saffron" taints, alongside the guarantee of employment and academic, intellectual freedoms of teaching and learning.

If the 'publicness' of public education must come to occupy our idea of the 'nation', it is time we march with our youth and demand the right to imagine alternative futures.

Debaditya Bhattacharya teaches at Kazi Nazrul University, West Bengal. Rina Ramdev teaches at Sri Venkateswara College, Delhi University

FROM THE READERS' EDITOR

We need a validation of good reporting

People suspect claims of policy success that are not backed by field reports

A.S. PANNEERSELVAN

A news ombudsman is in a bind when his criticism of journalism is proved right. While there is an element of personal satisfaction, there is also the pain of witnessing professional shortcomings. In my column, "Discussing an editorial" (Dec. 3, 2018), I had expressed my reservations about the editorial "Number theory" (Nov. 30), which I felt had granted the benefit of doubt on the contentious GDP back series data to the government without subjecting the numbers to close scrutiny.

REUTERS

The practice of data torture

When two members of the National Statistical Commission resigned recently after disagreement with the government on certain issues, including the release of a labour report by the National Sample Survey Office for 2017-18, readers pointed out that the issue of data torture had been addressed in this column. One reader even sent a short sequence from the British sitcom, *Yes Minister*, to show how data are deliberately suppressed by the government. In the sequence, the Prime Minister (PM) asks his officer: "Suppose the report is cautious?"

Sir Humphrey: Well, in that case we don't publish it.

PM: You mean we suppress it?

Sir Humphrey: No, we simply don't publish it.

PM: What's the difference?

Sir Humphrey: Oh, big difference! Suppression is the instrument of totalitarian dictatorships. We don't do that in a free country.

The role of journalism is to cut through the rhetorical clutter and help the reader understand the truth. Reports and opinion pieces are together expected to help us understand reality. Reporting is the bedrock of journalism, while opinion pieces provide a certain gravitas to the profession. Opinion pieces immediately resonate with readers, who either agree or disagree with the piece. The opinion pieces that remain in a reader's memory are those that are also validated by solid reporting. If the findings of a reporter contradict the opinion writer, as a journalist I tend to trust the reporter rather than the expert.

German sociologist Max Weber contextualised the role of journalism in relation to academic scholarship. He wrote: "Not everyone realizes that to write a really good piece of journalism is at least as demanding intellectually as the achievement of any scholar. This is particularly true when we recollect that it has to be written on the spot, to order, and that it must create an immediate effect, even though it is produced under completely different conditions from that of scholarly research. It is generally overlooked that a journalist's actual responsibility is far greater than the scholar's." While many recognise the act of verification as the central function of journalism, very few recognise journalism's role of bearing witness to events. It remains the voice of the people.

Reports and opinions

All the rhetoric to justify demonetisation and the multiple revisions of official numbers to generate a positive narrative for the government failed to work because field reports did not validate the claims of the centres of power. Let's look at an important reporting section, Ground Zero. Two months before demonetisation, on September 17, 2016, *The Hindu* carried a field report, "The bane of a bumper crop", which documented how the farmers in Maharashtra's onion belt were getting an unprecedented low price for their produce. A week after demonetisation, a long report, "The warp and woof of demonetisation", documented the crisis in the garment industry in Tiruppur. In 2017, there was another report, "Maximum support, maximum price", which attempted to make sense of agricultural marketing operations.

The gap between reportage and opinion writers is worrying. In *Liberty and the News*, Walter Lippmann wrote: "It does not matter that the news is not susceptible of mathematical statement. In fact, just because news is complex and slippery, good reporting requires the exercise of the highest scientific virtues." If claims of policy success are not backed by field reports, people suspect the claims. No amount of data suppression can help build trust with the government's pronouncement.

readerseditor@thehindu.co.in

SINGLE FILE

Smartphone tourism

Tourism apps have nearly destroyed the joy of discovering places through word of mouth and local lore

SAMIR NAZARETH

GETTY IMAGES/ ISTOCK PHOTO

It is peak tourist season in Goa and, according to reports, the footfalls have considerably reduced compared to last year. While many reasons are being cited for this, what is interesting is the change in attitude among tourists over the years. While oftentimes the confident strut that a tourist acquires in Goa could be due to an excess of the Goan party spirit, a more cavalier approach has now become the hallmark of not just Goan but Indian tourism. Rather than approach tourist destinations with sensitivity and contemplation, there is now a sense of bravado, a reckless thirst for adventure, and a mercenary undertone in interactions with locals.

This could be partly due to the rise of information technology, particularly online maps and other applications made available through smartphones that provide tourists a sense of confidence and purpose in unfamiliar places. Bravado and confidence come from knowing that you cannot get lost easily, that all your eating and drinking options are available on the palm of your hand, that even if something were to happen, help can be summoned immediately.

Smartphones and apps have become the bane of Goa. It is commonplace, for instance, to spot motorcycle-borne tourists staring intently at their phones or taking selfies while meandering across public roads, unmindful of the risk to their lives and others' lives. The uploading of such photos, filtered or unfiltered, on social media also means that few places remain untouched by crowds.

Online apps have made local knowledge and folklore dispensable. Today's sense of adventure comes from following online recommendations of unknown people – even if those suggestions only reinforce stereotypes. What place then for the wonder of serendipitous discovery on tourist trails?

Online maps and tourism advisory portals also increase visitors' Fear of Missing Out. Every potential location to visit is anointed with a certain number of stars, which creates a self-fulfilling prophesy for the place and seems to bestow bragging rights for having been there and done that. Do people even truly enjoy these visits any more?

Easy access to online information makes tourists presumptuous, gives them the false sense of knowing the place, or, worse still, becoming locals. It also makes tourism invasive and the tourist akin to a predator or parasitic species.

Online information such as tourism apps has nearly killed the inherent value and worth of word-of-mouth stories and local lore and brought clichés to the fore. While ignorance may not any longer be bliss, the Goan experience makes it hard to argue that knowledge is power, at least the kind that is in harmony with its surroundings.

The writer is the author of 1400 Bananas, 76 Towns & 1 Million People

DATA POINT

Crime and punishment

In 2018, 162 death penalty verdicts were pronounced by Indian courts, the highest since the turn of the millennium. **Varun B. Krishnan** looks at the types of crime for which the death penalty was given, and where the death row convicts are lodged at present

More on the death row | The number of death sentences handed out by the trial courts reached a new high last year

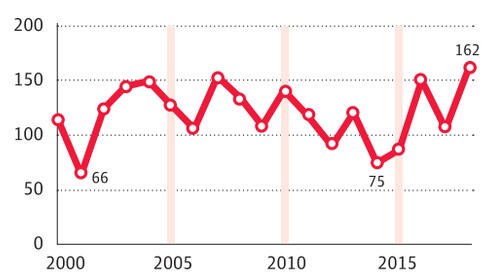

Rap sheet | The highest number of death sentences between 2015 and 2018 were given for cases involving both sexual violence and murder. Nine were convicted under the POCSO Act

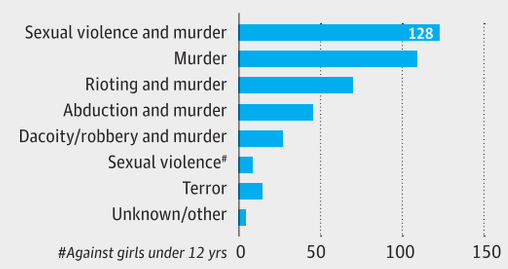

The numbers indicate prisoners, not cases

Across courts In 2018, the Sessions Courts awarded 162 death sentences. Of the 114 death penalty cases handled by the High Courts that year, the majority (50%) were commuted

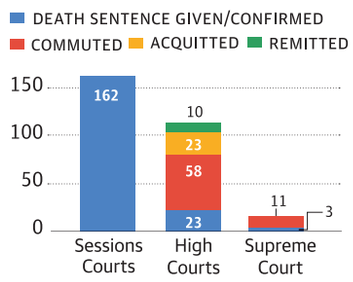

Where are the convicts? Jails in U.P., M.P. and Maharashtra have the highest no. of death row convicts as on Dec. 31, 2018

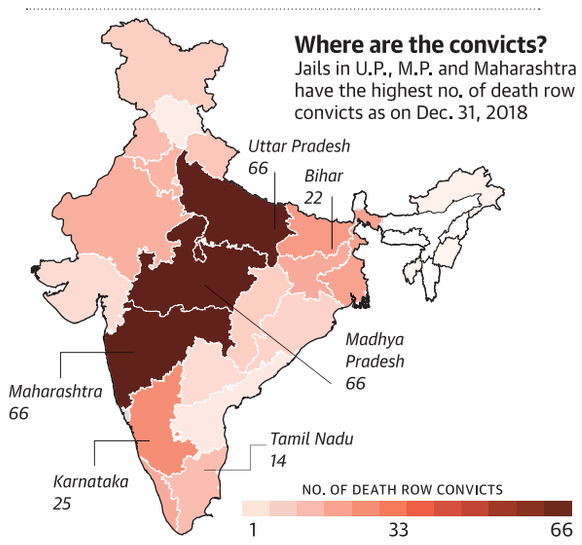

Source: Death Penalty in India: Annual Statistics 2018 by Project 39A

FROM The Hindu. ARCHIVES

FIFTY YEARS AGO FEBRUARY 4, 1969

Lakhs pay homage to Annadurai

Several lakhs of grief-stricken men and women from all over the State to-day [February 3] made a pilgrimage to the Government Estate to pay their last respects to Mr. C.N. Annadurai. It was a vast surging humanity jampacking all the approach roads to the Government Estate, demonstrating the fact that the charismatic leader of the South held sway over the hearts of millions of people. Never before had such a mammoth crowd been seen paying homage to a departed leader. In fact, the onrush of people towards the Rajaji Hall in Government Estate where Mr. Annadurai's body lay in state, was so great that repeated attempts to hold them and organise them into orderly queues failed. Mr. Annadurai's body was brought to the Rajaji Hall by about 7 a.m. when thousands of people had already collected to have a glimpse of their "Anna".

A HUNDRED YEARS AGO FEBRUARY 4, 1919

'Capital' Libel Suit. Plaintiff Awarded Damages.

At the [Calcutta] High Court to-day [February 3] Mr. Justice Rankin, delivered a lengthy judgment in the Libel Suit brought by Mr. C.J. Hallifax, against "Capital", Ltd., claiming one lakh of rupees as damages. His Lordship said Mr. Hallifax was a member of the Punjab Legislative Council, he had served 30 years in the Indian Civil Service and in the course of his career he had held high offices and posts of exceptional responsibility and was Commissioner of Lahore when the paragraph complained of was published. The defendants were the proprietors and the Editor of "Capital". The question before His Lordship was whether the paragraph complained of contained an imputation of immorality against the plaintiff. As a matter of law His Lordship found that the words complained of were capable of defamatory meaning. The article was based on a rumour, but no evidence was produced to prove the existence of the rumour and its existence was disproved.

CONCEPTUAL

Performativity

PHILOSOPHY

Performativity as a concept was first developed by the philosopher of language John L. Austin to define the capability of language as a mode of action and not just as a mode of description. It ran counter to the positivist view of speech as essentially comprising utterances that were either true or false. Marriage vows, promises of help, judicial verdicts, placing of bets are all instances of performative utterances that signify indulgence, and not any verifiable description.

MORE ON THE WEB

The Hindu Podcast: Sri Lanka's constitutional crisis, and the Tamil question

http://bit.ly/TheHinduPodcastLanka

@ieExplained
#ExpressExplained
If there are questions of current or contemporary relevance that you would like explained, please write to **explained@expressindia.com**

THIS WORD MEANS

MATUA COMMUNITY

Why are they important for Trinamool & BJP?

ON SATURDAY, Prime Minister Narendra Modi launched his Lok Sabha campaign from Thakurnagar, part of Bangaon seat near the Bangladesh border. He met with centenarian Binapani Devi, popularly known as 'Boro Ma' and matriarch of the the Matua community, and shared the stage with Boro Ma's grandson Shantanu Thakur, an emerging leader of the community. The community is important for a number of reasons. Since 2009, the Matuas were mostly known to be Trinamool Congress supporters; Chief Minister Mamata Banerjee is seen to be close to Boro Ma; the party has fielded members of her family in elections. However, the family has been divided over its political leanings in recent years.

PM Narendra Modi with emerging Matua leader Shantanu Thakur. *PTI*

Matuas trace their ancestry to East Bengal, and many of them entered West Bengal after Partition and after the formation of Bangladesh — the Prime Minister flagged the Citizenship (Amendment) Bill during his speech. Matuas are Namasudras, a Scheduled Caste group with a presence in at least six parliamentary seats. While no official count is available, community leaders put their population at 3 crore, while a state minister said there are 1.75 crore Namasudra voters. The Matua Mahasangha, a religious reforms movement and a sect, was formed by Harichand Thakur in East Bengal in the mid-1800s. Harichand's grandson P R Thakur established West Bengal's Thakurnagar as headquarters of the sect after 1947. Boro Ma belongs to the same family, which still wields influence on the community. Initially behind the Congress, the community turned to the Left Front from 1977 but was disillusioned again, as citizenship and land rights eluded many. In 2009, Left leaders and Mamata separately approached Boro Ma, who chose the latter. In 2010, Boro Ma made Mamata the chief patron of Matua Mahasabha; in 2011, the government provided grants to spruce up Kamonasagar, the community's holy pond in Thakurnagar. In 2018, Mamata visited Boro Ma and the government later announced a welfare board for Matuas.

Boro Ma's son Kapil Krishna Thakur won the Bangaon Lok Sabha on a Trinamool ticket in 2014. After his death, his wife Mamata Thakur won the seat. Her rival was also from the family — Subrata, another grandson of Boro Ma, and in the BJP. Subrata's father Manjul Krishna Thakur (Boro Ma's son) was a Trinamool minister of state but later he and Subrata joined the BJP. Shantanu too is Manjul Krishna's son, and organised Saturday's event; he invited Modi to speak.

RAVIK BHATTACHARYA

TELLING NUMBERS

Kerala review finds 1 in 3 women, 1 in 4 men overweight

ONE IN every three women in Kerala, and at least one in four men, are obese or overweight, according to the State Economic Review-2018 which was presented in the Assembly recently, and other aspects of which were reported in *The Indian Express* last week. The proportion of overweight women and men in the Kerala population, in 2015-16, was roughly one-and-half-times times the national average for either gender (see *graphs*). Compared to 2005-06, the proportion of overweight women in Kerala increased by nearly one-fourth in a decade, and that of overweight men by over half. While these ratios increased more sharply at the all-India level during this period, they remained far higher in Kerala.

EXPRESS NEWS SERVICE

DECISION 2019
THE QUESTIONS THAT MATTER

BJP vs Didi: Why West Bengal holds one key to Lok Sabha

State & Centre focus in battle of ruling parties

BJP challenges Mamata Banerjee on home turf; Trinamool Congress sees bigger role for her at Centre

ESHA ROY
KOLKATA, FEBRUARY 3

PM Narendra Modi's audience in Thakurnagar of North 24-Parganas district Saturday. *Partha Paul*

LAST MONTH, West Bengal witnessed an enormous rally. Leaders from 23 political parties from various states took the stage at Kolkata's Brigade Parade Grounds, led by Trinamool Congress chief and Chief Minister Mamata Banerjee. It was a show of strength against the BJP-led government at the Centre.

On Saturday, Prime Minister Narendra Modi launched the BJP's Lok Sabha campaign with rallies in West Bengal. He began at Thakurnagar near the Bangladesh border and asked the Trinamool Congress to back the Citizenship (Amendment) Bill, which relaxes citizenship eligibility rules for certain sections including Hindu immigrants from Bangladesh.

A look at what makes West Bengal so important in the Lok Sabha polls:

Why is the BJP repeatedly underlining a focus on West Bengal?

West Bengal has traditionally been a Left-leaning state. When BJP president Amit Shah chose Naxalbari, home of the Naxal movement, as the starting point of his nationwide tour in April 2017, Left leaders saw it as a statement by the BJP-RSS combine against Left and extreme-Left ideology. This was the narrative in Tripura too, where the BJP dislodged a 25-year-old Left government last year. And in Bengal, after the Left Front's ouster, it is Mamata's Trinamool Congress that is now called the "new Left". Its Singur and Nandigram land movements had been styled on Left-styled movements and eventually brought Mamata to power in 2011.

Right versus Left aside, the size of West Bengal and the strength of the Trinamool Congress, too, are important. The party is often described as a possible kingmaker in the Lok Sabha elections. West Bengal has 42 seats, behind only Uttar Pradesh (80) and Maharashtra (48), which could determine post-poll government formation. Even in the 2014 elections that were marked by a huge mandate for Narendra Modi, the Trinamool won 34 of these 42 seats, conceding only Darjeeling and Asansol to the BJP. This made the Trinamool the fourth largest party in Lok Sabha. If it does well in 2019, all eyes will be on whether the party would pitch Mamata as a possible prime ministerial candidate in a coalition.

So, has the BJP been gaining ground in West Bengal?

During its nationwide surge in the 2014 general elections, the BJP captured 17% of West Bengal's vote, its best performance ever in the state. In the 2016 Assembly polls, the BJP share dropped to 10%, but the party has kept up the pressure. The failure of a Left Front-Congress understanding provided the BJP with an opposition vacuum to occupy. In almost every bypoll since 2016, the BJP has been ahead of the Congress and the Left Front, claiming the role of main opposition. The BJP's performance relative to the rest of the opposition has encouraged organisations such as the RSS, the VHP and the Bajrang Dal, which had little presence in the state earlier, to become more assertive.

By April 2017, the RSS-BJP combine had announced 175 Ram Navami celebrations across districts. Over the next two years, the state witnessed unprecedented "armed processions" for Ram Navami. These resulted in the Trinamool Congress taking out its own Ram Navami processions. Both parties later announced celebrations on Hanuman Jayanti, also unprecedented in Bengal.

Some of the Ram Navami processions were marked by communal clashes — Hooghly in 2017, Ranigunj and Asansol and Purulia in 2018. There also were other violent clashes, including in Dhulagarh and Uluberia (Howrah) in December-January 2016-17; the BJP eventually displaced the CPM as the main opposition in last year's Uluberia bypoll.

So, is the battle really between the Trinamool and the BJP?

That is the way it is being viewed, although both the CPM and the Congress continue to be players. Critics of the Trinamool say the tide is turning against the party after the violent panchayat polls in May 2018, in which the party won 34% of the seats uncontested, amid allegations that it did not allow opposition candidates to contest or voters to vote. Critics say this loss of image will turn Trinamool voters towards the BJP, and that factionalism too will drag the ruling party down. Other observers, however, say it remains to be seen whether the votes gained by the BJP will translate into a significant number of seats, and whether the votes lost by the Trinamool will go mostly to the BJP or will also be shared by the Left Front and Congress. In fact, the BJP too has various power centres, and is already slipping in its existing seats. In Darjeeling, the Trinamool successfully quelled the Gorkhaland agitation, and split the Gorkha Janmukti Morcha between leaders Bimal Gurung (who has gone underground) and Binoy Tamang, who is seen as close to the Trinamool.

How well is the BJP placed?

Its immediate plank appears to be the Citizenship (Amendment) Bill, hoping that it will attract the votes of Bengali Hindu immigrants from Bangladesh with the prospect of easy citizenship. Before Modi's Thakurbari rally, Amit Shah had announced that the Bill would be a major poll issue in Bengal. Analysts say it is too early, however, to guess how much traction the Bill will gain in the state.

Besides, the BJP is up against a ruling party that will count several factors in its favour. Mamata retains much of her mass appeal, even after the perceived decline in popularity following the panchayat polls. Her political narrative over the last few years has been about targeting the Centre and advocating federalism. Analysts believe that just as Jyoti Basu benefited from a fractured opposition during the Left Front years, so will Banerjee from fractures in the BJP. Long-time observers note that the Left Front had consolidated strongly after its first two terms, with 252 out of 294 Assembly seats; Mamata is now in her second term. And while the Congress enjoys Muslim support in certain districts, the Trinamool Congress is still confident of winning the bulk of this segment (30% of the population) by pitching itself as a counter to the BJP. The party has also consolidated the voter base of the poor, handing out benefits including rice at Rs 2 per kg, and free bicycles for schoolchildren.

What about the Congress and CPM?

It can be argued that the main reason behind the rise of the BJP has been the decline of the Congress and the Left parties as opposition parties. The Congress decline had begun in 1998 itself, with the arrival of the Trinamool Congress as the main rival of the Left Front. Subsequent alliances between the Trinamool and the Congress, in 2009 and 2011, led to a further erosion in the Congress base. The Muslim-dominated border districts of Murshidabad, Malda and North Dinajpur, however, remain predominantly Congress bastions.

About the Left, supporters as well as critics say that the decline has happened primarily because the CPM has been unable to revive itself organisationally and strategically after the Singur and Nandigram agitations. There is also disagreement within the CPM, with leaders in Bengal continuing to oppose the Trinamool Congress and another section of leaders — outside the state — not ruling out an alliance.

Both the Congress and the Left Front are organisationally weak, with large numbers of workers having left to join the Trinamool since 2011. On the other hand, many have joined the BJP too.

Between them, the Congress and the CPM won six seats in 2014. If the Congress-CPM combine were to retain its seats, and given the strength of the Trinamool, analysts see West Bengal as a difficult state for the BJP to make major inroads into.

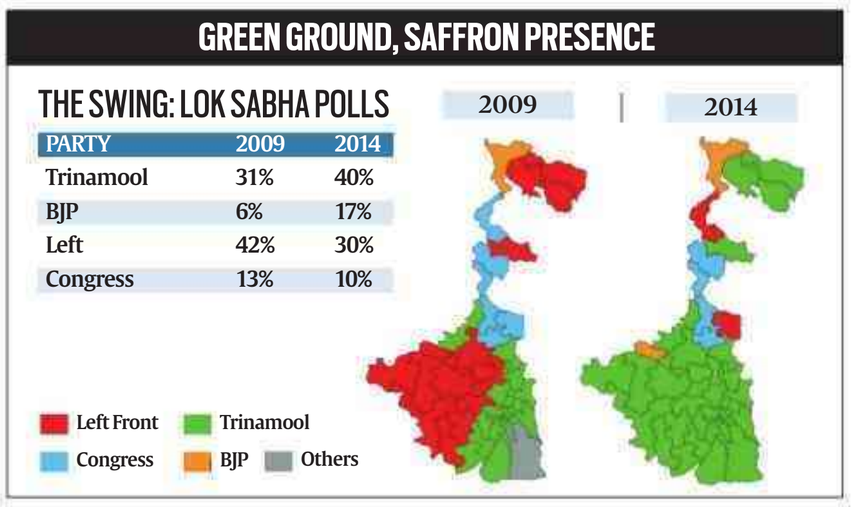

NEXT
#7 Maharashtra: What factors are at play in the Congress-NCP alliance?

How ICICI clawback can be a game-changer in India's financial sector

SHAJI VIKRAMAN
NEW DELHI, FEBRUARY 3

THE ICICI Bank board's decision to treat the exit of its former CEO Chanda Kochhar as a dismissal after an internal probe by Justice B N Srikrishna had found that she had violated the lender's norms, or code of conduct, marks perhaps a game-changing moment in India's financial sector. For, the blow is not just in terms of loss of a high-profile office but, more importantly, is monetary. The decision of the bank to claw back bonuses — in other words, get her to repay incentives paid to her since 2009 besides stock options accrued to her while she was CEO — promises to be huge. *The Indian Express* (January 30 edition) has calculated that her potential losses could be as high as Rs 9.82 crore as performance bonus between April 2009 and March 2018 while she was CEO, and Rs 221 crore as the current value of her over 57 lakh shares granted by the bank over these nine years.

The big signal

One of the signals for higher executives in the Indian financial sector is that this could be a trigger for greater scrutiny of their performance *vis-à-vis* their remuneration packages and measured against their governance practices and conduct. And that it may not be easy to get away when the line is breached. The boards of many listed firms, too, should now be under pressure to act rather than hastily defend their CEOs. In India, the regulators do not explicitly prescribe such ethical codes. The ICICI group's Code of Business Conduct and Ethics, 2018 says these are something that a well-respected institution must have in place and adhere to on an ongoing basis. "We therefore expect a high level of ethical conduct. You must conduct your duties according to the language and spirit of this code and seek to avoid even the appearance of improper behaviour," it says. ICICI's decision now, coming after an initial response of denial and backing the CEO then, is likely to build pressure on the boards of many other listed firms to be guided more by the interests of their shareholders rather than the management.

New in India, not in West

The term "clawbacks" gained currency in India after the RBI under then Governor Urjit Patel hit private banks — including ICICI, besides Axis Bank and Yes Bank — hard for divergence between the accounts, or financial information, furnished by them and the one reviewed by the regulator. The RBI stepped in to stop performance-based incentives such as bonuses and stock options in the year in which divergences were found. But instances of such clawbacks are common in the US and Europe, with statutory rules in place to act as as a deterrent against restating of financial statements and to discourage excessive risk-taking and misconduct by corporate leaders. The pitch had been cleared in India before 2014, when the RBI unveiled rules to enable bank boards to act against senior bankers in cases of violation of the Code and governance practices. That was built on by a committee formed by the RBI to review governance in bank boards and headed by P J Nayak, a former chairman of Axis Bank, which in 2015 recommended that the RBI impose penalties through cancellation of unvested stock options and claw back monetary bonuses from officials whenever greening of loans was detected. Interestingly, the committee recommended this at a time when banks were reporting good numbers but when there was anecdotal evidence of funding of accounts.

Kochhar has to repay incentives. *PTI*

Rule changes elsewhere

The corporate scandals in the West had, as early as 2002, prompted a change of rules in the US. Provisions on clawback were incorporated in the Sarbanes-Oxley Act to make CEOs and CFOs more responsible for honest financial reporting. It is another matter that even in the country with the world's deepest financial markets and most powerful regulators, it took considerable time to enforce this. In 2010, one of the Commissioners of the US Securities Exchange Commission (SEC), Luis A Aguilar, in a speech at the University of California conceded that the delay in enforcing this important law deprived investors of the benefit of the law and the accountability that the Congress sought to foster. Fewer companies would have then restated their accounts and fewer investors would have been harmed had the law been enforced, he pointed out. The same could be said of some of the boards of top Indian firms as also the regulators. This law was followed by the Dodd-Frank Wall Street Reform and Consumer Protection Act after the global financial crisis to address incentive-based compensation arrangements with clawback provisions, designed again to prevent excessive risk-taking.

Top-heavy stock options

N R Narayana Murthy, a founder of Infosys which popularised the concept of stock options in the country almost two decades ago, despairs now at the lack of self-restraint by senior managements in rewarding themselves. He wants boards to create a climate for fairness with their actions and to ensure that compassionate capitalism is acceptable to many Indians. Interestingly, Infosys and Axis Bank were two standout firms which fostered a culture of granting stocks to staff-members across the board to ensure that all of them were stakeholders. In some of India's listed private banks, like Axis Bank for instance, it has been limited to the top deck over the last few years. The last CEO, in fact, ended with over 13 lakh options, raising questions about the link between performance and rewards and board generosity.

The lessons

In an interview to *The Indian Express*, Murthy had suggested that firms should consider granting such incentives or stock options over time, to ensure demonstrable commitment over the medium term. That would mean granting it over a much longer period and enabling boards to act swiftly when there is misgovernance. In that 2010 speech, 'An Insider's View of the SEC', Commissioner Aguilar listed instances where the US regulator chose to sit on the sidelines. Rarely do regulators admit that they have not often listened to investors. Aguilar did that, saying "it is important that the SEC learns the lessons from the past". Indian firms, their boards, management and regulators could also choose to do that.

The clawback now announced by ICICI will be tested legally and the outcome will have a bearing on future action against other chiefs too. There is still work left. India's financial regulators and the government should come together to work on a design — taking into count global best practices for a law to check abuse of incentive based remuneration by senior corporate executives. A show of greed by some of them should not take away the sheen of stakeholder capitalism.

WORDLY WISE

CHARITY IS NO PART OF THE LEGISLATIVE DUTY OF THE GOVERNMENT.
—JAMES MADISON

The Indian EXPRESS

FOUNDED BY RAMNATH GOENKA

BECAUSE THE TRUTH INVOLVES US ALL

STAND YOUR GROUND

CBI's new director takes charge at a time when the agency looks most vulnerable. He will be watched closely

THE CBI'S NEW director, Rishi Kumar Shukla, takes charge of India's premier investigative agency in a delicate moment. Seldom has the agency, which is expected to boldly probe high-profile and politically-freighted cases, looked more shaken, more vulnerable. It is true that criticism of the CBI's functioning and scepticism over its claims to impartiality and independence, are nothing new. It was in an earlier regime, after all, that it earned from the Supreme Court the unflattering descriptor of "caged parrot". Yet, the civil war that has raged within, at the top echelons of the agency, and the controversy that has surrounded it over the last year and more have been unprecedented. They have not only shone harsh light on the CBI, but they have also drawn out the worst in other institutions — be it the political executive which short-circuited due process and made controversial moves in the dark, the court which displayed undue concern for sealed covers and left important questions unanswered, or the Central Vigilance Commission that appeared to take sides in the tussle within the agency and lend a convenient shoulder for the government to fire from. The new director's appointment has itself kickstarted fresh controversy, with the Leader of Opposition, one of the three members of the high-powered selection committee, alleging that laid out eligibility criteria have not been scrupulously adhered to. But the imperative now is for the new chief to lose no time in getting down to work to repair and restore the CBI's image and credibility.

It won't be easy. If the CBI is weighed down by the recent controversies, it is also hemmed in by long-standing structural constraints, such as the lack of a specific law that defines its mandate and insulates it from extraneous influence. If it is criticised for bending to the will of the government of the day, it is also rebuked by a senior minister in the government of "investigative adventurism", as in the ICICI case. But going ahead, any attempt to course correct can draw strength and succour from the legislative intent in statutory enactments such as the CVC Act of 2003 and the (amended) Delhi Special Police Establishment Act of 1946 apart from the apex court's directions in the Vineet Narain case which, among other things, laid down a minimum fixed tenure for the CBI director.

Of course, a course correction will also depend upon the restraint and respect the government shows for due process in its dealings with a non-elected institution and the vigilance of the court in holding it to account if it falls short. In the end, however, an institution's autonomy and independence is also, and crucially, a function of its own willingness and ability to stand its ground. The CBI's new chief must know that he will be watched closely.

OLD, NEW WELFARE

BJP speaks a language similar to that of the Congress. This may not be as surprising as it seems

IN 2014, NOT long after his government assumed power at the Centre, Prime Minister Narendra Modi, in a stinging criticism of the Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Act, dubbed it a "living monument" to successive Congress regimes' failure to address poverty. By shifting the focus of public spending from handouts to the provisioning of basic amenities and productivity-boosting assets — rural roads, houses, electricity, toilets, broadband connectivity — and by replacing open-ended subsidies with targeted direct benefit transfers, he seemed to signal a break from the old welfarist model of redistribution sans growth. Yet the Modi government's interim budget highlights the Rs 60,000 crore provision made for the MGNREGA for 2019-20 and announces a new direct income support scheme for marginal and small farmers that will cost the exchequer Rs 75,000 crore in the coming fiscal. The fact also is that this government's term has not seen a single major case of privatisation or increase in the super-subsidised retail price of urea or rice or wheat sold through ration shops.

Almost three decades after the unveiling of economic reforms, India's mainstream political parties are increasingly speaking the same language on welfare. The new political positioning of the BJP stands in contrast to its earlier belief that growth is the best antidote to poverty. This apparent shift may be born out of pragmatism and the fear of ceding space to its challengers. Whatever be the reason, the kind of competing welfarism that is now on show is certain to dismay sections of economic policy-makers, industry and investors. But it is also a signpost of India's political economy at work and a reflection of the sobering fact that irrespective of the colour and stability of the regime, the direction of reform hinges on political will. Sure, there have been structural reforms over the last decade or more across governments. But there is also a clear Laxman rekha that the mainstream national parties seem to have drawn.

Given a relatively short five-year political horizon, it is natural that parties will choose to pursue at best incremental reforms, or take a gradualist approach which ensures that few boats are rocked. Yet, it is also true that in the post reforms period, no government has reversed any major policy pursued by a previous regime, thus providing a measure of comfort to business and industry. Well-meaning policies aimed at welfare maximisation or redistribution are bound to succeed only when the state has both fiscal and implementation capacity. Some of India's leaders appear to recognise that — which perhaps explains the weak consensus for major reforms. It is all very well to say that growth will lift all boats, but ultimately, as has been said, politics is the art of the possible.

Budget's how question

It shows fiscal discipline, has provisions to win over many voter groups. But it lacks a roadmap

KIRIT S PARIKH

THE FINANCE MINISTER began with recounting the major economic achievements and reforms carried out by the government over the last four-and-a-half years. Inflation is controlled, which was the lowest during the tenure of this government, and was 2.19 per cent in December 2018. The government has walked the talk on corruption; banking reforms and the insolvency and bankruptcy code have put banks on a path to recovery from the high burden of NPAs; the fiscal deficit is contained to 3.4 per cent of the GDP; foreign investment inflows have been $239 billion over the last five years and the path-breaking structural reform of GST has been carried out.

In addition, he pointed out the achievements in the social sector. The Swachh Bharat mission has reached 98 per cent of rural India, with 5,45,000 villages becoming open defecation free. Under the Pradhan Mantri Awas Yojana, 1.53 crore houses have been built. Electricity has been provided to 2.18 crore homes, 143 crore LED bulbs have been distributed. Health cover has been improved and the world's largest healthcare programme, Ayushman Bharat, has already benefited 10 lakh families. All these are creditable achievements.

At the same time, many measures have been announced which may be considered as motivated by the coming election, covering many different groups. Among these are the Rs 6,000 per year promised to small farmers owning less than two hectares through transfer to the bank accounts of some 12 crore farmers. The first instalment will be disbursed this financial year, before the election. Though it does not include landless farmers, most agricultural labourers do own a small piece of land. Also, a pension scheme of Rs 3,000 per month after the age of 60 is proposed for unorganised sector workers with a monthly income up to Rs 15,000. In addition, a number of tax concessions have been offered to middle-class taxpayers. The exemption limit has been raised to five lakh and with certain investments, no tax will be payable for income up to 6.5 lakh. Deductions for medical expenses for senior citizens, student loan interest, home loan interest have also been raised.

> With 4 per cent inflation, 7.5 per cent growth, a less than 3 per cent increase in tax collection efficiency will suffice to reach this target. The budget, then, does not look like a pie in the sky. The FM outlined a 10-point vision for the country for the next decade. Such vision goals have been with us for decades. For example, eliminating poverty in 15 years has been the goal of our plans, including by the committee set up before Independence by the Indian National Congress under Jawaharlal Nehru and the plan made by Bombay industrialists (the Bombay Plan). The missing element is: How are these goals going to be realised?

The question arises: How are these to be financed? The expenditure on farmer income transfer is projected to be Rs 75,000 crore for 2019-20 and Rs 20,000 crore for the current financial year. We look at the items under which the allocation in the budget has increased substantially over the revised expenditure estimate for the year 2018-19. Urea subsidy is to increase from Rs 45,000 crore to Rs 50,000 crore. Direct benefit transfer allocation increases from Rs 16,500 crore to Rs 29,500 crore. Investment in non-governmental undertakings increases from Rs 9,400 crore to 15,800 crore. Transfer to national investment fund is raised from Rs 40,100 crore to Rs 50,600 crore. Apart from these, there are small increases and decreases in the outlays on major schemes. The revenue of the government is projected to increase by 14.33 per cent over the revised estimate of 2018-19. This is only a bit optimistic. With 4 per cent inflation, 7.5 per cent growth, a less than 3 per cent increase in tax collection efficiency will suffice to reach this target. The budget, then, does not look like a pie in the sky.

The FM outlined a 10-point vision for the country for the next decade. Such vision goals have been with us for decades. For example, eliminating poverty in 15 years has been the goal of our plans, including by the committee set up before Independence by the Indian National Congress under Jawaharlal Nehru and the plan made by Bombay industrialists (the Bombay Plan). The missing element is: How are these goals going to be realised?

The budget does not elaborate on how higher growth rate is to be attained nor how massive employment is to be created. We have seen that the level of investment and industrial production have not been growing at a sufficiently high rate. No new measure is proposed to accelerate these. The high level of unemployment that has been reported is based on the NSS report that has not been released by the government. If this is an indication of unwillingness to accept the reality of joblessness, the much-needed measures to create jobs may not be forthcoming. Employment in well-paying jobs requires a well-educated and skilled workforce. This is going to be especially important in the coming knowledge, innovation and artificial intelligence-driven global economy. While the budget makes a small additional provision to increase quality in higher technical education, the main thrust needed — raising the quality of primary and secondary education — is missing.

Similarly, while the budget has increased the outlay for research, the increase is modest and the total outlay is grossly inadequate. China, within a decade or so, has become a major technology power, caught up with the US and is a dominant exporter of new technological products, solar panels, smartphones, global software and online services that rival Google, Amazon etc. India seems to be standing by the wayside. Our technological vision seems to be confined to the space programme and atomic energy. Large allocations are made for atomic energy, which has so far delivered little compared to the resources put into it. If we want a clean air and solar power-driven economy, we need to spend a lot of money on solar research to reduce its cost and develop low-cost energy storage systems.

Also, how the goal of clean rivers is to be realised is not clear. The allocation on Namami Gange has been reduced as the revised expenditure in 2018-19 is way below the budget allocation. Cleaning rivers will require massive efforts, which we have not been able to make even to clean one river, the Ganga. Let us hope we have more success in the future.

To conclude, the budget has reasonable estimates of revenue and is disciplined. It has also made many provisions to win over many voter groups, who it hopes will vote for the government. What is not clear is how the vision is to be attained.

The writer is chairman, Integrated Research and Action for Development (IRADe)

OH SO 'BACKWARD'

Metropolitan notions of progress are challenged by the lifestyle of a Naga tribe

VRINDA SHUKLA

ONE OF 800 MILLION
A VOICE, UNDER 35

MON. THE NAME will not ring a bell for most of us. The land of the last legendary headhunters, this picturesque district of Nagaland, running along the Myanmar border, is one of the remotest in the country. Mon is also typically considered one of the most "backward" districts. In my one year of work and stay at Mon, I, however, have often felt compelled to contemplate on what it really means to be backward. Having grown up in one of the most prosperous and well-administered parts of India — in and around Chandigarh — and having lived in two megalopolises — Boston and London — I thought I knew what it means to not be backward. The people of Mon, belonging to the Konyak Naga tribe, continuously challenge my hitherto held clichéd notions of advancement and backwardness. I share the story of one such subversion.

One of the grandest annual celebrations in Mon is the "Lao-Ong Mo", a post-harvest festival of the Konyaks. I too was invited to express gratitude to the divine spirits for the bountiful harvest by way of praying, singing, dancing and feasting. It was a spectacular affair, attended, inter alia, by a posse of political leaders, senior government officials, heads of village councils and local unions. The feast was a gastronomical delight — tables groaning under the weight of an endless array of dishes, prepared from the freshly harvested produce. But more than the colourful cuisine, it was the unique dining experience that struck a real chord. As I walked into the dining hall, a bearer, decked in her traditional finery, handed me a beautifully woven bamboo food tray. The tray was shaped quite like a North Indian *thaal/thaali*, sturdy yet light to hold. It was lined with fresh green leaves. After I had finished eating, another equally charming bearer swiftly cleared away my tray. I followed my gentle helper, out of curiosity, to the room meant for disposal. I saw her upturn the tray into a large waste bin, also made of bamboo. The leaves had been lined on the trays with such skill that they fell into the bin as a neat little packet with all the waste food secured inside, without any of it soiling the tray, and without the cleaner having to touch any leftovers. The trays were being collected for sunning and reuse.

> At the end of the festival, I scanned the vast ground and the massive dining hall and found not a trace of refuse. I stood there for a while, satisfied to have had my stereotypes about 'backwardness' take a beating. It was a reminder that true advancement must encompass the good sense to clean up after ourselves.

As per the Konyak tradition, an anti-oxidant rich black tea, called "phika" is served after food. I was again thrilled to find my steaming phika cha poured into a disposable glass, carved out of bamboo stem. Such a seamlessly biodegradable pattern of food consumption was a first-of-its-kind experience. I was also one of the luckier guests, who received a gift hamper of local produce. Recently harvested millets, spices and vegetables were meticulously packed in firm packets made of palm leaf, and all the packets were tucked inside a beautiful sturdy bamboo basket. Not a speck of plastic was used in the otherwise usual guzzlers — feasting and packaging.

Generally, public events of such scale, both in India and abroad, would generate an abominable quantity of non-biodegradable waste. Material prosperity, associated with high-end retail and luxurious lifestyles, but built on toxic and unsustainable consumption patterns, may not quite be a sign of advancement. For instance, Starbucks' reported consumption of plastic, of which the straws alone annually contribute 2,000 tonnes of plastic to the world's oceans, is exacerbating global menaces like the Great Pacific Garbage Patch and threatening the marine ecosystem.

At the end of the festival, I scanned the vast ground and the massive dining hall and found not a trace of refuse. I stood there for a while, immensely satisfied to have had my stereotypes about "backwardness" take a beating, yet again. It was a powerful reminder that true advancement must encompass the good sense to clean up after ourselves and the thoughtfulness to adopt consumption patterns generating as little waste as possible.

My experiences in Mon regularly reveal to me that there is more to every story and so much to learn in places one might little expect. This new year, let's embrace advancement by looking beyond the constructed narrative, shrugging off generalisations, and learning from one another's transformative ideas and cultural wisdom, even those in faraway corners.

The Father of the Nation would have been proud of Mon. I certainly am.

The writer, 29, is an IPS officer. Views are personal

FREEZE FRAME — E P UNNY

FEBRUARY 4, 1979, FORTY YEARS AGO

KHOMEINI'S CALL

AYATULLAH RUHOLLAH KHOMEINI said a new constitution for an Islamic republic of Iran had been completed and warned of holy war if the Shah-appointed government did not resign. In his first news conference since returning from 14 years of exile, Khomeini said he would appoint a provisional government to prepare for national elections to ratify his constitution. The prime minister, Shahpour Bakhtiar, has pledged to remain in power "in the fortress of the constitution". He has promised to ignore any rival government established by Khomeini, the architect of the uprising against Shah Mohammad Reza Pahlavi. In an effort to avert a possible coup, Khomeini said there had been contacts between his supporters and the military and if necessary, there will be contacts later on. "We want the army to be independent," Khomeini said. "They are our sons and we love them. We want them to come in to the arms of the people and we will embrace them," he said.

CM IN A SOUP

RAM NARESH YADAV will be asked to face a no-confidence motion in the legislature party or resign from the chief ministership. These options will be offered to the UP chief minister when Yadav calls on Chandra Shekhar. The party high command, it seems, has made up its mind that Yadav should "better quit and make way to someone who can run the UP administration on non-factional lines. The Jana Sangh is spearheading the attack on Yadav.

FLASHPOINT UP

THE POLITICAL CRISIS in UP reached a flash point with the resignation by eight Jana Sangh ministers and the collection of signatures of the majority of the Janata Legislature Party by the pro-changers. The resignations of the eight cabinet ministers, six of whom were served with virtual quit notice last night by the chief minister, are being taken to Delhi for being handed over to the party president.

WHAT THE OTHERS SAY

"The intelligence chiefs' threat assessment was realistic, except for its omission of one challenge — a dangerously uninformed president."

— THE WASHINGTON POST

The boundaries of welfare

Interim budget indicates that the government's electoral strategy is to win over the 'intermediate classes' while ignoring the poor

Suvajit Dey

BHAT AIK

THE NARENDRA MODI government has now carried its penchant for undermining institu- tions to the national budget itself. Not only has it treated what should have been an in- terim budget, as its tenure lasts barely two months into the new financial year, as a full- fledged budget, but it has also palpably refrained from applying its mind to several key budgetary schemes. The aim has been not to launch some seriously thought out schemes for the poor but to create hype-worthy news.

Consider the three main "sops" of the budget. Twelve crore "small landholding families" are to be given Rs 6,000 each annually. This is a paltry amount, but let us ignore that. The scheme does not distinguish between ir- rigated and un-irrigated tracts. Minister Piyush Goyal also did not specify whether "landholding" refers to "land-owning" or "land-operating", and whether "land" in- cludes "homestead land". But one can infer that he was referring to "non-homestead" "land-owning" households. Indeed according to the NSS (Report 571) the number of house- holds with "ownership holdings" between 0.002 hectares (below which land would be solely for homestead) and 2 hectares, comes to 13.3 crore in 2013, which is close to the number he mentioned. What this means, however, is that both labourers and tenants are left out of the scheme. In short, a host of absentee landowners would get the government handout, while actual cultivators with- out ownership rights would be left out.

Besides, the estimation of the number of ownership holdings from a sample survey is one thing; but the actual identification of who owns what over the country as a whole, where crores of households are involved, is quite another. The Telangana Rythu Badhu scheme, the presumed inspiration behind all these programmes, was preceded by an updating of land records that established land ownership. But given the abysmal state of land records in the country as a whole, whose rectification would take months at the very least, the idea that immediate payments within the current financial year itself can be made to the deserving beneficiaries, and that too to the tune of Rs 20,000 crore, defies reason. Little thought has clearly gone into the launching of this scheme.

As for the pension scheme for the workers in the unorganised sector, it does not promise a pension to the existing old people; it does not promise a pension that is half the minimum wage, which has been a long-standing demand, and which, if implemented, would mean a pension of around Rs 5,000 per month today itself, compared to the promised Rs 3,000 per month 30 years from now for a 29-year old of today; above all, however, it is a contributory scheme. Minister Goyal talked about the government contributing a matching amount, but the figures he cited belie this promise. If a male worker just turned 29 pays Rs 100 per month until he is 60, then by that date he would have contributed a total sum close to Rs 1,50,000 at 8 per cent annual compound interest rate. Given the current male life expectancy of 65 years, he should be able to live the remaining five years of his expected life at almost Rs 3,000 per month out of his own savings. Where, then, is the government's matching contribution to the pension scheme?

This scheme, in short, is essentially a savings scheme, not a pension scheme. It creates a saving instrument for unorganised sector workers, but is not a pension scheme with substantial government contribution. Much noise, however, will no doubt be made about how it helps 10 crore unorganised sector workers.

The third major "sop" relates to income tax rebate, where the main provision is that individuals having annual taxable income up to Rs 5 lakh will get full tax rebate and will not be required to pay any income tax. This, curiously, is not expected to make much of a difference to income tax revenue: The share of income tax receipts to GDP is expected to go up despite these concessions from 6.4 per cent in the current year's revised estimate to 6.6 per cent next year.

As for the pension scheme for the workers in the unorganised sector, it does not promise a pension to the existing old people; it does not promise a pension that is half the minimum wage, which has been a long-standing demand, and which, if implemented, would mean a pension of around Rs 5,000 per month today itself, compared to the promised Rs 3,000 per month 30 years from now for a 29-year old of today; above all, it is a contributory scheme.

This is likely to be window-dressing; and in any case not much can be read into the budget figures, since fudging statistics has become an official habit these days. For instance, despite a whopping shortfall of Rs 1 lakh crore in GST collections in 2018-19 (RE) compared to the budget estimates, and no curtailment in expenditure, the fiscal deficit relative to GDP, which is the one figure that globalised finance watches closely, has remained almost unchanged between budget and revised estimates (3.4 instead of 3.3 per cent). No doubt, the new exaggerated GDP estimates, by pushing up the denominator, have done the trick.

To say this is not to endorse the view of finance that the fiscal deficit should always be strictly bounded, a view that Joan Robinson, the renowned economist, had called the "humbug of finance"; it is only to underline the growing vacuity of official statistics, including budget figures.

Interestingly, however, the government has not used its predilection for manipulating statistics to show larger allocations for MGNREGA and other pro-poor programmes. MGNREGA allocation has marginally declined by Rs 1,000 crore. Goyal has said that funds will be made available for MGNREGA if needed; but this is exactly what all previous finance ministers have said even while whittling down the programme. A recent ground-level study shows that a good deal of demand for employment under MGNREGA is not registered at all; and the actual employment provided is only 68 per cent of the registered demand.

The niggardliness towards MGNREGA and the exclusion of labourers and tenants from the Pradhan Mantri Kisan Samman Nidhi scheme on the one hand, and income tax concessions together with the handouts to farmers up to 2 hectares (which will comprise holdings of better-off peasants in irrigated tracts) on the other, suggest that the government's electoral strategy is to win over the "intermediate classes" while ignoring the poor. But the lack of application of mind that marks several key budgetary schemes may thwart even this electoral strategy.

The writer is a former professor of economics at JNU, Delhi

The techno dystopia

Controversy over EVMs shows that regulatory structures are needed to ensure the algorithmic world doesn't trample on democratic rights

OVER THE BARREL

BY VIKRAM S MEHTA

TWO FORMER chief election commissioners (CECs) and the current CEC have verbally, and in writing, rebutted the suggestion that the electronic voting machine (EVM) is hackable and that the Commission should safeguard public franchise by reverting to a form of paper balloting. This controversy is about the electoral process in India. It bears, however, upon a deeper issue. The tension between technocracy and democracy.

The disclosure that Facebook had allowed the consultant firm Cambridge Analytica to access the private data of its users which was then passed onto the Donald Trump election campaign raised concerns about data privacy and, more fundamentally, the power of the owners of data to abridge democratic rights. The most eloquent votary of this concern has been the historian, Yuval Noah Harari. In a talk at Davos in 2018 followed by other lectures and his latest book, *21 lessons for the 21st century,* Harari has spelt out the potential consequences of an algorithmic world. He acknowledged the huge benefits of the digital age but forewarned of a scenario in which human beings acquire the potential to "hack into the bodies, minds and brains of other human beings" and where algorithms "know individuals better than the individual knows himself". This scenario is imaginable because of the advancement in computing power (info tech) and the agglomeration of biometric and biological data (biotech). When the two "tech" revolutions merge, the handful of companies that own data will fashion the greatest revolution ever overturning the laws of Darwinian selection with the "laws of intelligent design". Democracy could be replaced by "digital dictatorship" .

Fascinating, science fiction, alarmist — one may use any one or a combination of these words to describe Harari's prognostications. But there is no ignoring the many questions that his description of an alternative future has raised. Practical questions: What regulatory checks and balances should be imposed on the companies that monopolise data — Amazon, Google, Tencent, Alibaba, Facebook? Should these companies be broken up? If so, who should be given the authority to keep data and to decide how and in what manner this asset should be given away? Surely not the politicians.

Philosophical questions: How does one control phenomena (technology and data) that is "everywhere but nowhere," that recognises no physical or political barriers and is universal in scope and impact? Can an algorithmic world be managed through institutional structures of governance built on the bedrock of Westphalian principles? (The treaties of Westphalia, between 1644 and 1648, brought to an end the religious wars in Europe. They established three principles that still define the nature of international affairs today — the principle of state sovereignty, non interference in the affairs of other states, and the principle of the legal equality of states)

Harari admits he does not have the answers to these questions. He believes that a collective of poets, philosophers and statesmen should be tasked to develop the answers. Whether that should be the way forward or not can be debated. But what is becoming clear is that questions like those posed above cannot be answered by drawing on the past or projecting from the present. An "out of the box", approach is required that recognises that technology and innovation have not been an unmixed blessing and that the current rules, institutions and structures of governance will need to be refashioned.

The Industrial Revolution laid the foundation for decades of sustained development and economic prosperity. But it also led to the crisis of global warming. Nuclear scientists generated the prospects of clean, affordable and abundant energy but they also raised the spectre of a thermonuclear holocaust. The digital revolution opened up phenomenal vistas of knowledge and information but, as suggested by Harari, created the potential of digital dictatorship. The issue is that whilst humanity has harnessed the benefits of technology and innovation, it has not yet created the institutions for managing its consequences.

I am reminded of a rhetorical question that Robert Kennedy asked in his short memoir, *Thirteen days on the Cuban missile crisis*. "What, if any, circumstance or justification gives this government or any government the moral right to bring its people and possibly all people under the shadow of total destruction". In October 1962, the US discovered that the Soviets were placing offensive nuclear missiles in Cuba. President Kennedy gathered together his advisers and for 13 days these people deliberated on the US response. The military advocated a preemptive air strike, others a blockade. Whatever the response, the risk existed of a nuclear fallout with global consequences. The crisis was averted but it did remind everyone of the paradox of democratic governance. Elected leaders are subject to checks and balances to prevent absolutism of power. And yet, on the one occasion the world came to the edge of a nuclear conflict, the fate of humanity (in a sense) rested in the hands of a few people. President Kennedy and his advisers decided on how to respond — no one else. More than 60 years on, the world is still struggling to contain the exercise of plenipotentiary powers. Except that, now, in addition to limiting the power of individuals, it has to find a way of limiting the "power of data".

EVMs have reduced the incidence of voter fraud, double counting and strong arm tactics. But that does not mean it has assuaged the concerns of the techno illiterate that perhaps their votes might be misappropriated by an electronic intermediary. We must not, therefore, duck the question. What institutional structures must be created and what regulatory checks imposed to ensure the algorithmic world does not abridge our democratic rights? It's the same question that Harari and others are asking in the context of the impact of the digital age on humanity.

The writer is chairman and senior fellow, Brookings India

A weekly look at the public conversations shaping ideas beyond borders — in the Subcontinent. Curated by Aakash Joshi

VIEW FROM THE NEIGHBOURHOOD

PETULANT DIPLOMACY

THE EDITORIAL IN *Dawn* on February 2 takes great umbrage at New Delhi's "over-reac- tion" to the phone call between Foreign Minister Shah Mehmood Qureshi and All Parties Hurriyat Conference leader Mirwaiz Umar Farooq. First, the editorial argues that "it is difficult to understand how Delhi considers the conversation between Mr Qureshi and the Mirwaiz as an 'attempt to undermine India's unity'. Moreover, the Indian foreign secretary's language [alleging that this co

The editorial also contends that India under Prime Minister Narendra Modi "has made it clear that peace with Pakistan is not part of its priorities".

This "narrow communal approach" though, will not help the cause of peace in the Subcontinent, according to the editorial. After the elections, it hopes, a government that can further peace will come to office in New Delhi.

NRC'S FALLOUT

WHILE THE diplomatic circles in both Bangladesh and New Delhi have been understandably circumspect with how the ongoing exercise with the National Register of Citizens will affect bilateral relations, the opinion pages have been more vocal. On February 2, Kalam Shahed, a researcher based in Canada writes in *The Daily Star* of the "severe repercussions" that the NRC exercise could have on both sides of the border.

The rhetoric by a certain section of India's political and governing class has not gone unnoticed: "BJP President Amit Shah has, in an unabashed, derogatory manner, called the alleged Bengali migrants to India 'termites'. This has not gone unnoticed by conscious Bengalis on both sides of the border. Migration into and within India is not a recent phenomenon. Historically, segments of population had moved around in droves, from one part of India to another due to natural disasters and compelling political economic reasons. By politicising migration, BJP may be playing a dangerous game."

Shahed argues that "An attempt to push Bengalis into Bangladesh or West Bengal may bolster greater Bengali nationalism in the subcontinent and among the more conscious Bengali diaspora settled abroad. A disenfranchised Bengali population could, nevertheless, trigger adverse reaction in Bangladesh, West Bengal and Tripura. Bigotry and irresponsible steps have definite reverberations for regional geopolitics."

COURT'S LAW

THE NEPAL SUPREME Court has asserted its authority over the prosecution and conviction of military personnel in the country, a decision that *The Himalayan Times* calls "landmark" in its February 1 editorial. According to Nepal's 1990 constitution, the military was excluded from the jurisdiction of the country's apex court. "However, the Interim Constitution, 2007 and the Constitution of Nepal, promulgated in 2015, has brought even the military court under the command and control of the Supreme Court. It also has now become clear that no military personnel can escape from being tried in a civilian court. In principle, an appeal on the verdict passed by the military court can also be made in the Supreme Court for a final review," according to the editorial.

The verdict is significant because the military's exceptionalism has been a bone of contention in Nepal for sometime: "The Nepali Army has often drawn flak for settling criminal offences committed by army personnel through the military court. So the Supreme Court verdict has legally put the dispute between the military court and the civilian court to rest. By bringing the military court under civilian command and control, the image of the country's professional and apolitical army will also improve greatly in the eyes of the public. This verdict will also deter army personnel from committing criminal offences outside the barracks. As the Supreme Court, which is also the record keeper of all verdicts, has clearly stated that all criminal offences committed by army personnel will come under the civilian court, it will also help end the culture of impunity while helping to protect the human rights of ordinary citizens."

LETTER TO THE EDITOR

DATA TAMPERING

THIS REFERS TO the editorial, 'Whose data' (IE, January 31). The data collected by government agencies such as NSSO is crucial to the formulation and implementation of government policies and schemes, decisions and action of private players and international agencies. Withholding and manipulating such critical data is unacceptable.

Bharat Adhya, *Chennai*

UNCALLED FOR

THIS REFERS TO the article, 'When investigation is intimidation' (IE, January 31). It is baffling that minister Arun Jaitely termed the CBI's FIR in the ICICI case as "investigative adventurism". Such remarks impact the investigation process adversely and weaken government institutions. It is absurd to blame investigations as inimical to ease of doing business. The government should identify what ails the private sector.

Amiyavrat Kumar, *Navi Mumbai*

TECH FOR FARMERS

THIS REFERS TO the article, 'For the farmer, things to do' (IE, February 1).The author does not mention the role of technological solutions in addressing the farm crisis. Farmers in Israel harvest water from dew-drops. Farm mechanisation must be smooth and subsidised. The lack of a proper marketing system is also a reason for rural distress.

Tapomoy Ghosh, *Burdwan*

LETTER OF THE WEEK AWARD

To encourage quality reader intervention, The Indian Express offers the Letter of the Week award. The letter adjudged the best for the week is published every Saturday. Letters may be e-mailed to editpage@expressindia.com or sent to The Indian Express, B-1/B, Sector 10, Noida-UP 201301. Letter writers should mention their postal address and phone number.

THE WINNER RECEIVES SELECT EXPRESS PUBLICATIONS

Opinion

MONDAY, FEBRUARY 4, 2019

BOOST TO TRADE

Piyush Goyal, Union finance minister

"Indian customs is introducing full and comprehensive digitalisation of export/import transactions and leveraging RFID (radio-frequency identification) technology to improve export logistics"

Piyush bats for growth, RBI may have to play spoiler

High government borrowings, not all reflected in budget, will raise interest rates; that will dampen investment

THE GOVERNMENT'S EXPANSIONARY stance, reflected in the slippage of the fiscal deficit both in FY19 and FY20, may bring succour to some, but will drive up inflation and interest rates that will end up hurting growth. The extra fiscal impulse of 30 basis points in FY20 (the deficit was originally pegged at 3.1%) will most certainly compel RBI to not just stay put on rates, but could also prompt it to alter its current neutral stance to one of calibrated tightening. Going by the fairly sharp spike in yield on Friday, of 13 basis points, the bond markets are already very nervous. That is understandable, given the government plans to borrow around ₹50,000 crore more in FY20 in comparison with FY19, with the total net borrowing pegged at ₹4.73 lakh crore. Indeed, given the appetite in the markets, the government will most certainly crowd out private sector investments, while leaving the cost of money elevated.

It is not just the market borrowing that is worrying the bond market. The bigger concern is the huge extra-budgetary borrowing that the government has resorted to. If one added in the off-budgetary borrowings, the deficit would be significantly higher; what matters is not just central borrowings, but those of the states as well as central and state PSUs. Sajjid Chinoy of JPMorgan estimates India's total public sector borrowing requirement (excluding that of state PSUs since the data is incomplete) remains above a hefty 8.5% of GDP in both FY18 and FY19. Given how the growth in household savings has slowed sharply over the years, from 23% of GDP to 17%—net financial savings are just 7% of GDP—this is a big problem since private borrowers will now find themselves being crowded out of the market. The irony is that, despite this massive borrowing, there isn't enough capex happening. Indeed, the government expenditure itself may need to be pruned because many of the revenue-growth assumptions are quite optimistic.

For example, aggregate GST collections have grown at barely 7% over the last six months—the total collections have struggled to hit ₹1 lakh crore a month—but the CGST has been budgeted to grow at 21% next year. While there has been a fair bit of buoyancy in personal income tax collections—at a growth of 16%—the target for even this year looks difficult. Under the circumstances, given much of the benefits from better compliance would have kicked in, hitting next year's target of ₹6.2 lakh crore or a growth of 17% could be a tall ask. Should there be a shortfall in tax collections—or non-tax revenues for that matter—the government will be left with very little fiscal room and, therefore, will need to cut expenditure.

Since the scope to trim revenue expenditure is limited, it is capital expenditure that will take a hit. The current run rate for capex, as Chinoy points out, is a modest 4%, and could end the fiscal year at close to 1.5% of GDP. That is lower than the 1.6% seen last year and the expectations for the current year of 1.6% of GDP. The target for FY20 is 1.5% of GDP, but could slip to lower levels should the revenue assumptions not play out as planned. Consequently, overall capex could remain sluggish given the private sector is unlikely to make meaningful big-ticket investments in the next couple of years. While large companies will be able to cope with rising interest rates, smaller companies will feel the pinch. That is unfortunate because, while the revised GDP may show the economy is doing well, the reality on the ground and data from non-government sources suggests a very different picture.

Budget mysteries

If the economy is humming, why is so much stimulus needed?

MOST OF THE criticism of the CSO raising its estimates of GDP just the day before the Interim Budget, not surprisingly, was about the possibility that this was done to give the government more room to show a lower deficit number. This, however, didn't happen since, while the FY18 nominal GDP was raised to ₹171 lakh crore from ₹168 lakh crore earlier, the government retained the same advance estimate for FY19 GDP that was made in the first week of January; had it raised the GDP estimate for FY19, it would have been able to accommodate a higher fiscal deficit since the level is calculated as a proportion of GDP. Of course, it can still do this later and then show that the fiscal slippage was not as large as was earlier made out.

There are, however, several mysteries that arise from these—and earlier—GDP revisions such as the ones made while calculating the GDP back-series. If GDP during the NDA years is averaging around 7.7% over the last five years, why does it continue to need the kind of pump-priming that is being seen? Indeed, the 3.4% of GDP fiscal deficit number is not really what you need to look at, it is the combined public sector deficit—the Centre, the states and the PSUs—that matters. The extra-budgetary funding of the FY20 budget—via the PSUs—is around ₹6 lakh crore, an amount that is just slightly lower than the central fiscal deficit of ₹7 lakh crore. Add to this, the state government deficit and, according to a JPMorgan Chase research note, the total public sector borrowing was around 8.5% of GDP in both FY18 and FY19. If this is the kind of pump-priming required now, how much will it be when GDP really collapses?

The other mystery revolves around the relative efficiency in the use of capital. During the UPA-2 years, bank credit grew by around 16.3% on average every year and investment levels—as measured by Gross Fixed Capital Formation—were around 33.2% of GDP; the average GDP growth during this period was 6.7%. During the last five years, however, credit growth has around halved to 8.6% while investment levels have fallen to 29%. So, if a lower investment level and a much lower credit—partly due to the reduction in inflation, it is true—is yielding a higher GDP growth, this means the levels of productivity in the economy are up sharply. Is the GDP data incorrect, as many non-government economists suggest, or is it time to rewrite the investment-GDP playbook for the country?

BuniyaadSuccess

The Delhi govt's initiative to drive up learning levels in govt schools is a template other states can use

THE SUCCESS OF the Delhi government's Mission Buniyaad—that aimed to improve reading and maths abilities of students in Class III-IX at government and municipal corporation schools—is a lesson for other states. Prompted by the National Achievement Survey's dismal findings on science, maths and language learning levels in government schools, the Delhi government had initiated Mission Buniyaad—an intensive in-school coaching programme to bridge learning gaps amongst students—in April 2018. By December 2018, 62.5% of Class III students in Delhi government schools could read text in Hindi that was of their grade-level, while, in April, just 35.9% could. The corresponding jump at the Class VIII level, *The Indian Express* reports, was from 54.6% to 71.25%. Against the April numbers, students in Classes III and IV registered massive maths-abilities gains—from 18.6% to 53.9% and 27.9% to 64.3%, respectively. Though the number of students who demonstrate grade-level maths and language abilities is much lower than what the Delhi government unofficially targets, the progress is significant.

Under Mission Buniyaad, students were given learning support to bridge crucial gaps via "summer camps" organised at the school during the annual summer holidays. Parents—many of whom are likely migrants from other states—were persuaded to stay back in the city during the holidays to ensure that kids could attend the "summer camp" without disruption. Buniyaad complements another AAP government programme to improve learning levels—Chunauti—under which students from Class VI to Class IX were mapped for learning levels and the weaker students got special focus from teachers. The Centre has taken some steps to spur states into working on improving learning levels. Perhaps, the Delhi template could be one that could be of use to them.

BUDGET & MPC

THE INTERIM BUDGET TRIES TO STRIKE A BALANCE, BUT THE REAL STORY IS OFF-BALANCE SHEET; RBI IS A CLOSE-CALL NEXT WEEK

A delicate balancing act

SAJID Z CHINOY & TOSHI JAIN

Chinory is chief India economist & Jain is economist, JP Morgan

INDIAN POLICYMAKERS TRIED to strike a balance between fiscal prudence and responding to the agrarian distress in the Interim Budget. For starters, the fiscal deficit for the FY19 came in close to our expectations, narrowing to 3.4% of GDP (JP Morgan: 3.3%) from 3.5% of GDP in the previous year, thereby belying some market fears of a large fiscal slippage. In fact, net of asset sales, the Centre consolidated its deficit by 0.2% of GDP in FY19.

Furthermore, the FY20 budget included a new programme of cash-transfers for farmers, against a backdrop of rural distress. The cash-transfers turned out to be more targeted and less expansive than had been expected in some quarters, entailing an annual transfer of ₹6000 (~$85) for small and marginal farmers. Authorities estimate that this will cost ₹750 billion in FY20 or about 0.4% of GDP on an annualised basis, but the programme begins retrospectively from December 2018. However, this in conjunction with tax rebates for the middle-class—which are expected to cost 0.1% of GDP—meant that new budgetary commitments added up to about 0.5% of GDP. Consequently, the Centre's fiscal path going forward is less austere than markets had expected, with the government pegging the deficit for FY20 at the same level of 3.4% of GDP, even as we had expected some modest consolidation (0.2% of GDP), mainly as a signaling mechanism.

Furthermore, if one looks below the hood, the FY20 budget is not without risks. The entire 0.5% of GDP in new commitments is expected to be financed by assumed tax buoyancy in FY20. This is because we expect that when the actual numbers for this year print, tax collections will be lower than currently forecasted, resulting in expenditures having to be correspondingly curtailed. Therefore, the increase in Tax/GDP projected for FY20—over what eventually materialises this year—is expected to, de facto, bear most of the burden of financing the 0.5% of GDP in new commitments.

For example, aggregate GST collections have grown less than 7% over the last six months, but the Centre's GST collections are effectively budgeted (given where we think they end up this year) to grow at an aggressive 25% next year. Furthermore, even personal tax collections may be a challenge to achieve. They are growing at 16% a year thus far, and need to sharply re-accelerate in the next few months, just to meet this year's forecast. Even if that is achieved, personal taxes will need to grow over 20% next year (taking into account the rebates)—on a forecasted nominal GDP growth of 11.5%—to meet next year's budgeted target. If this year's forecast is not achieved, the asking rate is even higher.

Expect RBI to cut rates by 25bps in 1H 2019. While our baseline call remains a cut, it will come down to how the MPC interprets the Interim Budget

In case this tax buoyancy is not realised, the worry is that expenditures—particularly capital expenditures—may again have to bear the brunt. Capex growth is currently running at just 4%, and we believe it will end the year close to or below 1.5% of GDP, below both where it printed last year (1.6% of GDP) and what authorities expect for this year (1.6% of GDP). Next year is already budgeted lower at 1.5% of GDP, and the risks are to the downside, given aggressive revenue assumptions. All that said, this is an interim budget. All of these assumptions could be revisited when the full budget is presented by the next administration in July.

However, looking at the Centre's deficit is to miss the fiscal forest for the trees. First, "off-balance borrowing" has been on the rise, something that was reaffirmed in today's Budget. For example, Food Corporation of India (FCI)—that should ordinarily be financed only from budgetary allocations—borrowed 1.3% of GDP from other sources in FY18, apart from what it received from the budget. Similarly in FY19, FCI borrowed 1% of GDP from other sources. This helps the Centre's fiscal math, but the "effective deficit" must include FCI borrowings, and therefore should be commensurately higher.

More generally, if one were to add the Centre, and the combined deficit of the states (which have expanded sharply in recent years), off-balance-sheet borrowing (e.g. FCI) and borrowing by all central public sector enterprises, India's total public sector borrowing requirement (PSBR) remains above a hefty 8.5% of GDP in both FY18 and FY19. Furthermore, this is likely a lower bound, because it does not include state public sector enterprises on account of data constraints.

To be sure, some of this borrowing—particularly by states and CPSEs—is to finance much-needed capex. But borrowing of this quantum constitutes a large claim on domestic household savings, which have fallen in recent years from 23% of GDP to 17% of GDP. In fact, net household financial savings are at just 7% of GDP, suggesting all of it—and more—is being absorbed by the public sector.

As previously discussed *(goo.gl/Xd4ztE)*, against the backdrop of these borrowing pressures, it is no wonder India's yield curve steepened in recent years. In other words, for any given overnight policy rate, benchmark borrowing costs for the economy are higher now than in previous years. One can argue that large public sector borrowings are justifiable because private investment has been depressed. But what if private investments were to pick up, as is fervently hoped? It would need to be accommodated by the public sector reining itself in. Else, borrowing costs would rise further—and crowd out some private activity—or India's current account deficit would swell, and private investment would need to be financed by (more risky) foreign borrowing.

Unexpected extra borrowing for FY19 by ₹350 billion—to help finance the retrospective start to the cash transfer programme—and the lack of consolidation in FY19, meant that borrowing was higher than markets expected. As such, net borrowing for FY20 is pegged at ₹4.73 trillion and gross borrowing at ₹7.1 trillion, also reflecting the fact that the "maturity switches" that were expected this fiscal did not materialise either. Consequently, bonds sold off, with the yield on the benchmark bond firming by 13 bps.

The sustained downward surprise to food prices has meant that headline inflation has significantly undershot RBI's and market expectations in recent months, and is on course to undershooting their 4% medium-term target for at least the first half of 2019. At a minimum, this will induce the MPC to change its stance from "calibrated tightening" to "neutral" at next week's policy review.

Furthermore, despite growth holding up and a slightly-less austere fiscal path, we believe the headline undershoot will be too compelling for the MPC to ignore, given its mandate of keeping headline inflation close to 4% on a durable basis. We therefore expect RBI to cut rates by 25bps in the first half of this year. While our baseline call remains a cut for the next MPC meeting, it has become a toss-up between the February and April reviews and will come down to how the MPC interprets the Interim Budget.

Chaos on the jobs front

If the economy has been growing at 7% on average for five years, a 10% drop in employment would imply a 17% rise in labour productivity which would be the highest ever in the world

MEGHNAD DESAI

Prominent economist and labour peer

MY VERY FIRST published article, way back in 1962, threw doubt on NSS estimates of expenditure on food with official estimates of food-grains output. The two sides of the transaction—supply and demand—did not tally. Thus, despite its high reputation, NSS has not always got things right. The debates on measurement of consumption for poverty estimate has proved so controversial that further rounds of NSS surveys have been halted. But the contradictions in rival data estimates on the employment situation are just bizarre. The latest leak of NSSO data says unemployment was 6.4% in 2017-18, apparently the highest in 45 years! This is despite a fall in Labour force participation rate from 39.5 % in 2011-12 to 36.9 % in 2017-18. This would mean a 10% drop in employment.

If the economy has been growing at 7% on average for five years, a 10% drop in employment would imply a 17% rise in labour productivity which would be highest ever in the world. The data on jobs are just not making any sense. (The new estimate of GDP growth for 2016-17 as 8.2% is also hard to credit.)

Compare the CMIE estimates of the unemployment rate with those in the Annual Labour Force Survey. I list the CMIE first and the Labour Force survey second. The first is a point estimate. while the second is annual—September 2016 8.46%/ 2015-16 average 3.7% // December 2017 4.77% / 2016-17 3.9%. The gap between the two estimates is large, almost 2/1 and the direction of change is contradictory.

The situation is equally dire on jobs created. Surjit Bhalla and Tirthtanmoy Das have a paper on the website of the Prime Minister's Council of Economic Advisers where they have discussed all aspects of measurement. Compare their estimates of employment with that of CMIE and you feel they live in two different countries. Here are the estimates of employment (in millions), Bhalla-Das first and CMIE next: 2016 437/417.9 // 2017 449.8/ 407.9. Thus, the difference between the two is not merely in size but also in the direction of change. Between them the difference over the two years is 61 million jobs, equal to about 7% of the labour force. This is hard to credit.

A lot of debate about job creation is about formal sector jobs and it is not clear whether flexible definitions of jobs are used in recent calculations or whether the formal sector definition of jobs dominates

Since both sources are respectable, the discrepancy must be about definitions or measurement techniques. But, it is too wide to be comfortable. One reason may be the way jobs are defined especially in a largely informal economy. Here, the *pakodawala* example is apt. The *pakodawala* has a livelihood—a *rojgar,* but not a *naukri*. Does an Ola driver count as doing a job or not? During the No Confidence debate last July, Narendra Modi talked of the jobs created in a variety of different ways. Formal sector jobs can be measured by looking at Employee Provident Fund subscribers. But, the prime minister also gave example of jobs created as a result number of three-wheelers bought. As these vehicles are driven round the clock, each could be providing jobs for two people. He also cited the number of new cars bought. A large proportion would require drivers. Newly qualified doctors would start practise and hire assistants. Thus, he pointed out that jobs come in various shapes and sizes.

It is not clear whether such flexible definitions are used in recent calculations or whether the formal sector definition of jobs dominates. A lot of the debate on job creation is about formal sector jobs.

Young people queue up for government jobs as they are lifelong employment till retirement. The salary gets upgraded with every Pay Commission. Then, there is a pension, also upgraded. This is why government jobs are at a premium and, furthermore, there are few unreserved jobs—each is a rare gem. No wonder thousands apply for a single opening.

Obviously, there is a problem with Indian statistics in the measurement of many variables. Sudipto Mundle chaired a commission on statistics, but his recommendations do not seem to have been accepted. After the elections are over, the new government should look at this issue of unreliable statistics. An international panel should be constituted to look at this issue. If India is to be the fastest growing economy for the next decade or two, it is time it got itself credible statistical services.

LETTERS TO THE EDITOR

Clarification

In *A dangerous and wasteful 'solution'* dated January 30, 2019, Isher Judge Ahluwalia and Almitra Patel made a statement that the WtE plant in Okhla bears no resemblance to the original EIA which was issued to IL&FS. The authors would like to add that, subsequently, the Okhla plant has been implemented and operated by another private company, and not IL&FS

Better implementation

Regulatory reforms in the recent past have increased relevant participation across various market segments, encouraged longer-term fund holdings at lower expenses and rendered greater portfolio diversification and segregation to mitigate investment risks. To generate visible results on the ground, producers must be provided greater financial resources, higher leverage and in-depth understanding of risk-hedging derivative instruments, especially when increased overlap or alignment with international markets is likely to promote institutional participation on an intraday basis
— Girish Lalwani, Delhi

Global trade slowdown

While individual nations would gladly tap into the advantages provided by globalisation, they show reluctance to share common problems of a unified economy. The popular theory that exports would provide an escape route from the crisis has failed. In good times, the trade generated by a country's growth bolsters global growth. But, in times of crisis, trade spillovers have the opposite effect. Trade imbalances influence global growth prospects.
— Janaki Narayanan, Mumbai

●Write to us at feletters@expressindia.com

Regd. No: DL-21048/03-05. R.N.I. No.26750/74. Printed and Published by R.C. Malhotra on behalf of The Indian Express (P) Limited and printed at The Indian Express (P) Limited Press, A-8, Sector-7, Noida - 201301 and published at The Indian Express (P) Limited, Mezzanine Floor, Express Building, 9 & 10, Bahadur Shah Zafar Marg, New Delhi-110002. Phone: 0120-6651500, Fax: 0120-4367933. (Cover price: Patna: Mon-Fri ₹6, Sat ₹9, Sun ₹11; Raipur: Mon-Fri ₹7, Sat ₹10, Sun ₹10)
Chairman of the Board: Viveck Goenka, Managing Editor: Sunil Jain, Deputy Managing Editor : Shobhana Subramanian* (*Responsible for selection of News under the PRB Act) ©Copyright: The Indian Express (P) Limited. All rights reserved. Reproduction in any manner, electronic or otherwise, in whole or in part, without prior written permission is prohibited. The Financial Express®

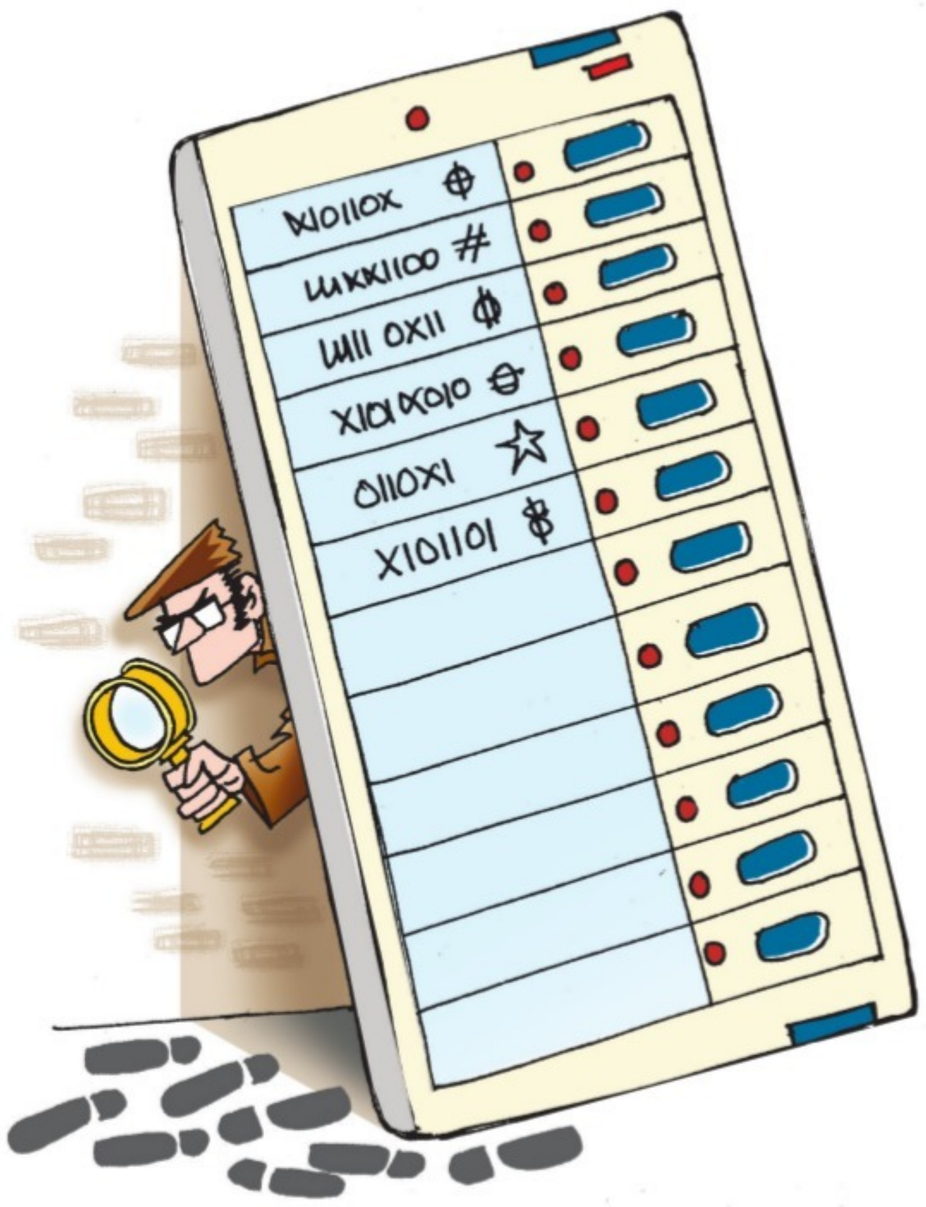

ILLUSTRATION: ROHNIT PHORE

VIKRAM S MEHTA

The author is chairman & senior fellow, Brookings India. Views are personal

OVER THE BARREL

The tension between technocracy & democracy

The usage of EVMs has, no doubt, reduced the incidence of voter fraud, double-counting and strong-arm tactics, but that does not mean it has assuaged the concerns of the techno-illiterate that perhaps their votes might be misappropriated by an electronic intermediary

TWO FORMER CHIEF Election Commissioners (CEC) and the current CEC have verbally, and in writing, rebutted the suggestion that the electronic voting machine (EVM) is hackable and that the Election Commission (EC) should safeguard public franchise by reverting to a form of paper balloting. This controversy is about the electoral process in India. It bears, however, upon a deeper issue—the tension between technocracy and democracy.

The disclosure that Facebook had allowed consultant firm Cambridge Analytica to access the private data of its users, which was then passed onto the Donald Trump election campaign, raised concerns about data privacy and, more fundamentally, the power of the owners of data to abridge democratic rights. The most eloquent votary of this concern has been the historian Prof Yuval Noah Harari.

In a talk at Davos, Switzerland, in 2018, followed by other lectures and his latest book '21 Lessons for the 21st Century', Prof Harari spelled out the potential consequences of an algorithmic world. He acknowledged the huge benefits of the digital age, but forewarned of a scenario in which human beings acquire the potential to "hack into the bodies, minds and brains of other human beings" and where algorithms "know individuals better than the individual knows himself." This scenario is imaginable because of the advancement in computing power (infotech) and the agglomeration of biometric and biological data (biotech). When the two 'tech' revolutions merge, the handful of companies that own data will fashion the greatest revolution ever, overturning the laws of Darwinian selection with the "laws of intelligent design." They will have the power to "control the fate of humanity" and possibly "that of life itself." Democracy could be replaced by "digital dictatorship."

Fascinating, science fiction, alarmist ... one may use any one or a combination of these words to describe Prof Harari's prognostications, but there is no ignoring the many questions that his description of an alternative future have raised.

Practical questions: What regulatory checks and balances should be imposed on companies that monopolise data (Amazon, Google, Tencent, Alibaba, Facebook)? Should these companies be broken up? And if so, who should be given the authority to keep data and to decide how and in what manner this asset should be given away? Surely, not the politicians!

Philosophic questions: How does one control phenomena (technology and data) that is "everywhere but nowhere," and that recognises no physical or political barriers and is universal in scope and impact? Can an algorithmic world be managed through institutional structures of governance built on the bedrock of Westphalian principles? The treaties of Westphalia (between 1644 and 1648) brought to an end the religious wars in Europe. They established three principles that still define the nature of international affairs today—the principle of state sovereignty, the principle of non-interference in the affairs of other states, and the principle of the equality (legal) of states.

Prof Harari admits he does not have the answers to these questions. He believes that a collective of poets, philosophers and statesmen should be tasked to develop the answers.

Whether that should be the way forward or not can be debated. But what is becoming clear is that questions like those posed above cannot be answered by drawing on the past or projecting from the present. An "out of the box" approach is required that recognises that technology and innovation have not been an unmixed blessing, and that the current rules, institutions and structures of governance will need to be refashioned to address the emergent challenges.

The Industrial Revolution laid the foundations for decades of sustained development and economic prosperity. But it also led to the planetary crisis of global warming. Nuclear scientists generated the prospects of clean, affordable and abundant energy, but they also raised the spectre of a thermonuclear holocaust. The digital revolution opened up phenomenal vistas of knowledge and information, but, as suggested by Prof Harari, created the potential of digital dictatorship. The issue is that whilst humanity has harnessed the benefits of technology and innovation, it has not yet created the institutions for managing its consequences.

I am reminded of a rhetorical question that Robert Kennedy asked in his short memoir 'Thirteen Days' on the Cuban missile crisis. "What if any circumstance or justification gives this government or any government the moral right to bring its people and possibly all people under the shadow of total destruction." To remind, in October 1962, the US discovered that the Soviets were placing offensive nuclear missiles in Cuba. President John F Kennedy gathered together his advisers and for 13 days these people deliberated on the US response. The military advocated a pre-emptive air strike; others, a blockade. Whatever the response, the risk existed of a nuclear fallout with global consequences. In the end, the crisis was averted, but it did remind everyone of the paradox of democratic governance. Elected leaders are subject to checks and balances to prevent absolutism of power. And yet, on one occasion, the world came to the edge of a nuclear conflict, and the fate of the humanity (in a sense) rested in the hands of a few people. President Kennedy and his advisers decided on how to respond. No one else. More than 60 years on, the world is still struggling to contain the exercise of plenipotentiary powers. Except that now, in addition to limiting the power of individuals, it has to find a way of limiting the 'power of data'.

We must ponder what institutional structures have to be created and what regulatory checks imposed to ensure the algorithmic world does not abridge our democratic rights

I have no doubt that the usage of EVMs has reduced the incidence of voter fraud, double counting and strong-arm tactics, but that does not mean it has assuaged the concerns of the techno-illiterate that perhaps their votes might be misappropriated by an electronic intermediary. We must not, therefore, duck the question: What institutional structures must be created and what regulatory checks imposed to ensure the algorithmic world does not abridge our democratic rights? This is the same question that Prof Harari and others are asking in the context of the impact of the digital age on humanity.

INTERIM BUDGET

Sets the stage for real estate revival

ANUJ PURI

The author is chairman, Anarock Property Consultants

Banking on the initiatives undertaken so far, the government scripts the next chapter for real estate growth

AS ANTICIPATED, THE Interim Budget did turn out to be a vote bank-facing exercise, predominantly cheering farmers and labourers. But the government kept the best for the last—a pleasing boost to the housing sector in more ways than anticipated. The provisions made will certainly boost consumer sentiment, stimulate affordable housing demand and incentivise investors hoping for rental returns.

The major positives included a full tax rebate for income up to Rs 6.5 lakh (including investment under Section 80C), which is likely to push demand for affordable homes, though not much in mid-income segment. There was an extension of Section 80IBA for an additional year; it will push affordable housing and cheer developers active in this segment.

The Budget increased the tax exemption limit for rents earned to Rs 2.4 lakh from the previous Rs 1.8 lakh limit. This will make property investment more attractive and help boost housing sales. Another positive for investors was the rollover of capital gains tax on the sale of residential property. This benefit now applies to two houses instead of the previous single one. Importantly, the Budget provided tax exemption on notional rent of a second home, which again makes property investment more attractive and also gives a fillip to the second home segment.

The period for taxing unsold inventory held by developers has been extended up to two years. As per Anarock data, this will benefit nearly 85,000 ready units that are unsold on the market, of the total 6.73 lakh units across top seven cities. The Budget put a clear onus on boosting infrastructure by allocating more funds for development of airports, railways, etc. While infrastructure deployment doubtlessly benefits real estate industry, it remains to be seen how much of it is actually implemented.

While real estate braved GST and demonetisation and will reap the due long-term rewards, they had dealt the industry a hard blow, from which it has not fully recovered yet

All in all, the real estate sector received its due share of consideration in this balanced Budget, despite the massive electoral pitch. To be fair, the incumbent government has certainly invested heavily into the real estate sector.

Among its achievements, the Narendra Modi government has aptly set the stage for Indian real estate to become a healthy, flourishing industry in the long-term. However, the proviso is 'long-term'. This government has definitely tightened its grip on real estate, which was the single-largest dumping ground for black money hoarders in previous years.

It has also introduced some high-impact schemes to benefit genuine end-users of real estate. There have been major policy overhauls, amendments in Acts, a visible impetus to infrastructure development, and slightly over-ambitious visions like 100 Smart Cities and Housing for All by 2022.

The triple-policy tsunami of demonetisation, RERA and GST brought about a paradigm shift in the way real estate business is carried out in the country, resulting in vastly improved transparency and efficiency. The confidence of property buyers and investor confidence is now being restored, albeit gradually, and real estate is beginning to look more favourable as an asset class.

That said, the Centre's aim to enforce RERA in each state is still way behind schedule. As of today, quite a few states have not notified their respective RERA rules as yet, while in others buyers are fretting over the dilution of the rules that have been notified. Also, while the real estate sector braved both GST and demonetisation and will reap the due long-term rewards, they dealt the industry a very hard blow, from which it has not fully recovered yet. In fact, the arrival of a flat 12% of GST on under-construction was not exactly an improvement for buyers.

Certainly, this government has done a lot for the real estate sector, not least of all with its latest Budget. However, the stage that has been set is for long-term growth and not short-term firework displays. Will the momentum that has been infused into the real estate sector continue long enough for a real revival to take place? All eyes are on the forthcoming general elections.

INTERIM BUDGET

Betting big on mainstays

This is a credible Budget; it takes a practical approach

RUPEN JHAVERI

MD, Private Equity, KKR India

AGAINST THE BACKDROP of the current economic environment, the Interim Budget lends credible impetus to the economy's two big mainstays: farmers and the middle class. This will potentially lead to higher household savings, thereby setting the stage for consumption-led growth in the months to come.

Ahead of the elections and conversations around farm distress, a special package for farmers was largely expected. The government also announced a 5% interest rate subvention on timely repayment of farm loans. Over and beyond its widely targeted approach, the Budget stands out in its attempt of striking equilibrium between the immediate needs of the middle-income class and the agenda of driving large-scale rural reforms. This is evident in the suite of initiatives to alleviate farmers' distress, complete tax rebate on an annual income of Rs 5 lakh and below, hike in TDS exemption limit from Rs 10,000 to Rs 40,000 on post office savings, to name a few.

A notable highlight is the focus on reducing taxation on MSMEs. The Budget has a sharply-defined focus on empowering the MSME sector, with faster turnaround times for loan approvals and a 2% interest subvention for loans up to Rs 1 crore.

The government continues to have a significant thrust on the rural economy, infrastructure and affordable housing. These factors will continue to drive domestic demand, and have a multiplier effect on employment, construction equipment, taxation and revenues.

The affordable housing sector will benefit tremendously in wake of sops announced with regards to exemption of TDS on house rent of up to Rs 2.4 lakh a year, exemption of tax on notional rent of second self-occupied home, and capital gains available on two house properties. Also, notional rent-free period on ready inventory having been increased to two years and greater incentivisation to MSMEs will render the industry poised for growth.

India attracted good FDI in the previous year. This, along with the government's focus on debt consolidation and fiscal consolidation, sets the stage for a strong economic outlook. Fiscal deficit for the next year is projected to be 3.4%, assuming 15% hike in direct taxes and 13% rise in indirect taxes. These numbers look a bit ambitious given the current trajectory of economic growth. The cumulative effect of cash transfer to farmers and the middle-income class will be a boost to consumption.

Overall, it's a credible Budget; it takes a practical approach that is notable, against the backdrop of elections and low inflation. The government focused on better tax collection. The rebates will potentially bring about a structural change in consumption, thereby driving growth.

Balances prudence & aspiration

May have a far-reaching effect on farmers, the poor and the needy

VAIBHAV SANGHAVI

Co-CEO, Avendus Capital Public Markets Alternate Strategies

AHEAD OF THE Budget, market participants were debating whether it's a Vote on Account or an Interim Budget or a full Budget. There was some sense of disinterest, given the Street wasn't expecting anything major. However, this turned around quickly, as the finance minister began his speech. By the end, it was an eventful Budget with far-reaching implications.

It has been a judicious mix of populism and careful allocation of resources. While expectations of populism were largely prevalent, big-bang announcements like the PM Kisan Samman Nidhi and a rebate in income tax for an assessee with up to Rs 5 lakh of income came as a surprise. What it effectively does is puts money in the hands of people, which may boost consumption. With the measures announced, the Budget is likely to have a far-reaching and broad-based effect on farmers, the poor and the needy.

In terms of important macro numbers the markets watch closely, the data is mixed. On the positives, fiscal deficit is budgeted at 3.4% for FY20, which is comfortable, given there is an additional allocation for compensating farmers, under the PM Kisan scheme. The debt-to-GDP number is also comfortable at 48%. The total expenditure is based on the assumptions of overall growth in tax revenues at 14%, which again is reasonable. Revenue from non-tax sources is what will need some monitoring. Since resources are limited, there has been minor growth on capital expenditure. Also, the gross borrowing number is relatively high, which has led to a rise in 10-year benchmark rate. However, I do not expect inflation to rise meaningfully.

On the corporate side, while there wasn't any major announcement, the measures taken to revive the real estate sector are heartening. Announcements on treatment of capital gains, house property tax and affordable housing incrementally lends support to the ailing sector.

What it means for markets? It is clear that the biggest beneficiary is the consumer sector (staples and discretionary). The Budget is likely to provide a material push to GDP, and higher borrowings may have some pressure temporarily on bond prices, which can affect financials. The Budget is indifferent to industrials, IT and pharma. I believe the Budget would be discounted very quickly, and markets would again start looking at global economies, where the action is.

The Budget has tried to address income inequality. I consider it as a very big and long-term positive. It is a fine balance of support, prudence and aspiration, though limited by the nature.

The burden of subsidies

The trend rate of expenditure on subsidies in April–Nov 2018 indicates a higher spend than indicated in the revised estimates for 2018–19

RAISINA HILL

A K BHATTACHARYA

The government's response to those who may be questioning some of the revised estimates for 2018-19 in the interim Budget presented last Friday is that the finance ministry has access to information and data that gives it the confidence to put out those numbers. That should be a reassuring message. After all, these revised estimates are crucial to the government meeting its revised fiscal deficit target of 3.4 per cent of gross domestic product (GDP) for 2018-19.

A reality check on these numbers, nevertheless, should be useful. Let us look at the expenditure on major subsidies. The revised estimates for food subsidy during 2018-19 are ₹1.71 trillion, compared to the Budget estimates of ₹1.69 trillion. Before the interim Budget's presentation, monthly data for food subsidy was available till November 2018. That figure put the food subsidy bill already incurred between April and November at ₹1.42 trillion or a monthly run rate of about ₹17,800 crore. If one assumes the same run rate to continue in the remaining four months of the current financial year, the total food subsidy bill should increase to ₹2.14 trillion. This will then end up being at least ₹42,000 crore more than the revised estimates put out in the interim Budget.

Fertiliser subsidies have two major components. Under urea subsidy, the interim Budget showed that the revised estimates for 2018-19 have been reined in at ₹44,985 crore, a little less than the Budget estimates of ₹44,989 crore. The monthly data on urea subsidy spent during April-November 2018 puts it at ₹33,294 crore, or a monthly run rate of ₹4,162 crore. If the same run rate continues in the remaining four months of the current year, the total urea subsidy bill will go up to ₹49,941 crore, about ₹4,956 crore higher than the revised estimates figure given in the interim Budget.

Similarly, the subsidy bill for nutrient-based fertilisers, as shown in the revised estimates for 2018-19, is ₹25,090 crore, exactly the same figure that was given in the Budget estimates a year ago. But the expenditure already incurred under this head in the April-November 2018 period is ₹20,152 crore, or a monthly run rate of ₹2,519 crore. And if the expenditure continues to take place at the same rate in the remaining four months of the year, the total annual bill for nutrient-based fertilisers subsidies would go up to ₹30,228 crore, which will be ₹5,138 crore higher than the revised estimates put out in the interim Budget.

That leaves the petroleum subsidy bill, which the revised estimates in the interim Budget had put at ₹24,833 crore, which was actually lower than the Budget estimates of ₹24,933 crore for the same year. Crude oil prices had gone up steeply during the year and the subsidy bills for cooking gas and kerosene should have gone up. Indeed, the subsidy bill on petroleum incurred in the first eight months of the year was estimated at ₹23,142 crore, indicating a monthly run rate of ₹2,893 crore. If this run rate continues for the remaining four months, the total annual subsidy bill on petroleum would go up to ₹34,713 crore, which would be ₹9,880 crore more than the revised estimates put out by the interim Budget.

The total expenditure incurred on these major subsidies during 2018-19, as per the revised estimates, is ₹2.66 trillion, which is marginally higher than the Budget estimates of ₹2.64 trillion. But if you extrapolate the data from expenditure already incurred on these subsidies in the April-November 2018 period to the full year, the slippage could be as high as ₹0.62 trillion and the actual major subsidies bill could go up to ₹3.28 trillion, compared to ₹2.64 trillion given in the revised estimates.

Remember that the monthly figures on the subsidies expenditure already incurred are compiled and released by the Controller General of Accounts (CGA) every month. Of course, the CGA's numbers are unaudited and provisional. Also, the trend rates logic may not apply in each and every case. The Budget makers have more access to information and data, which may have given them the confidence to put out the revised numbers. It is also possible that its impact on the final fiscal deficit figure could be neutralised by underspending, compared to the revised estimates, under some other heads. Or has a part of this expenditure been deferred to the next year? But a deviation from the trend rate by as much as ₹0.62 trillion on major subsidies alone could have serious implications for the quality of the government's overall fiscal consolidation programme.

RBI may change stance; rate cut unlikely

If data supports, we could see a rate cut next financial year but that may not signal the beginning of a new cycle

BANKER'S TRUST

TAMAL BANDYOPADHYAY

Today, if we take a poll of Indian industrialists on their expectations from the Reserve Bank of India's (RBI's) last bi-monthly policy for the 2019 fiscal year, 10 out of 10 will pitch for a rate cut. They are also rooting for a cut in the banks' cash reserve ratio (CRR) — or the portion of deposits kept with the RBI — to release money into the system.

Indisposed finance minister Arun Jaitley too has asked for a rate cut, albeit indirectly — saying, India cannot have a real rate of interest that's higher than anywhere else in the world.

The chorus for the cut has grown ever since the retail inflation data for December 2018 was released. Retail inflation in December dropped to its 18-month low of 2.19 per cent, lower than what most analysts had expected, driven by continued deflation in food prices (-2.5 per cent). Since July 2018, retail inflation has been on a slide.

The RBI is committed to achieve a medium-term target of 4 per cent retail inflation on a durable basis within a band of plus or minus 2 per cent, while supporting growth. In its December monetary policy review, the Monetary Policy Committee (MPC), Indian central bank's rate-setting body, projected 2.7-3.2 per cent inflation in the second half of 2019 and 3.8-4.2 per cent in the first half of 2020 (with upside risks). The projection was revised downward after RBI's earlier estimate undershot the actual data.

Even the December inflation projections for the second half of the current fiscal year as well as the first half of the next year could be high. This and a sharp drop in the index of industrial production (IIP) in November are behind the rising demand for a rate cut. The so-called base effect alone cannot explain 0.5 per cent IIP growth in November as the decline is broad-based. An area of particular concern is the contraction in manufacturing production. Does this signal a slowdown ahead?

Indeed, headline retail inflation is hovering below expectation but the so-called core inflation or non-food, non-oil, manufacturing inflation in December remained unchanged at 5.7 per cent. In fact, core inflation, excluding transport and communication, actually rose to 6 per cent in December from 5.6 per cent in November, driven by higher inflation in health, education, household and personal goods. Had there been no dramatic fall in crude prices, which had led to a drop in the retail prices of petrol and diesel, the inflation figure would have been different.

It is difficult to get a hang of things when global crude prices are so volatile. From $86 a gallon in October it dropped to $49 in December to climb back to $62 in January, the level it is trading now. In tandem, the movement of the 10-year treasury bill yield yo-yoed from 8.24 per cent to 7.21 per cent and closed at 7.61 per cent on Friday. And the Indian currency, which dropped to 74.48 a dollar in October, strengthened to 69.18 in the first week of January. Last week, it closed at 71.3.

The interim Budget's push for consumption and growth stimulus may give a fillip to the equities but the bond story may be over

The RBI has been buying bonds to infuse liquidity in the system. So far, it has bought ₹2.36 trillion worth bonds. The pressure on liquidity has eased and this may continue to mid-March when Indian corporations pay advance tax on their estimated profits for the quarter.

The biggest joker in the pack is the state of the fiscal situation. The budgeted fiscal deficit target of 3.3 per cent of gross domestic product (GDP) won't be met; it will be marginally higher at 3.4 per cent and, more importantly, next year too it is estimated to be 3.4 per cent. The government's market borrowing has been raised this year and also for fiscal year 2020 even as the tax revenue projections are rather optimistic.

Clearly, it is turning out to be a structural issue. The interim Budget is expansionary, populist and inflationary on the margin. Its push for consumption and growth stimulus may give a fillip to the equities but the bond story may be over. Last Friday, the 10-year bond yield rose 11 basis points from the day's low after the Budget presentation. One basis point is a hundredth of a percentage point.

Irrespective of which political party comes to power after the May elections, it will be difficult to claw back most of the welfare schemes which will inflate the government spend and fiscal responsibility will be the casualty.

Against this backdrop and around 5.8 per cent six-month average core inflation, a rate cut is unlikely but I will not rule out a change in the stance of the monetary policy — from "calibrated tightening" to neutral. If economic activities remain muted, the pressure on core inflation will ease and the next rate cut could be as early as in April, just ahead of the general elections.

After the last meeting of the MPC in December (which left the policy rate unchanged at 6.5 per cent), former RBI governor Urjit Patel had said "if the upside risks to inflation do not materialise, there is a possibility of space opening up for appropriate RBI action". The decision on a no-change policy rate was unanimous, while one of the six members of the MPC, Ravindra Dholakia, voted in favour of changing the stance to neutral.

Some analysts say the February policy could turn out to be the governor's policy. How? Here's what they say: Among six MPC members, Michael Patra and Viral Acharya will surely vote against a rate cut but Pami Dua may join Ravindra Dholakia for a cut. A lot will depend on Chetan Ghate and Shaktikanta Das; if there is a tie, Das will have the casting vote.

If indeed the tie happens because Das is against a rate cut (and Ghate in favour it), his casting vote will only reaffirm that. This will also be case, if he favours a rate cut (and Ghate opposes it). So, either way, it will be the governor's policy.

But my take is the MPC meet will be devoid of any such drama. If at all there is a tie, it could be on the stance of the policy and not the action. The interim Budget has sealed the outcome of the MPC meeting — no rate cut and a likely change in policy stance. If data supports, the earliest we could see a rate cut is in April but even if that happens, it will not signal the beginning of a new cycle.

The columnist, a consulting editor with Business Standard, is an author and senior adviser to Jana Small Finance Bank Ltd. Twitter: @TamalBandyo

CHINESE WHISPERS

On a wing and a prayer

Chairman of trouble-hit Zee group Subhash Chandra last week urged investors to defeat the "negative forces" by buying shares of Zee and Dish TV following a sharp slide in their value. The plea raised many eyebrows as promoters do not often ask people to buy shares in their companies. "Instead of asking people to buy its shares, the Zee group chief should have asked them to subscribe to their channels amid the uncertainty created by Trai's new policy," said an analyst. Aimed at transparency, the new broadcasting guidelines give users more leeway to choose channels they prefer.

Naidu takes the lead

It seems Telugu Desam Party President N Chandrababu Naidu has taken it upon himself to iron out the remaining differences between the Aam Aadmi Party (AAP) and the Congress for the sake of the *mahagathbandhan*. He was in Delhi last Friday and met both Congress President Rahul Gandhi and AAP Convener and Delhi Chief Minister Arvind Kejriwal. He said there is a "democratic compulsion" for all the Opposition parties to come together; however, "the political compulsion of each party at the state-level must be taken into account" while forming a united force before the Lok Sabha polls. His statement assumes significance because an alliance between the AAP and the Congress is yet to materialise as both sides continue to attack one another and assert they would be going solo for the upcoming polls.

Adopt a cow

Madhya Pradesh Chief Minister Kamal Nath was reportedly aghast that there were not many government-run cow shelters in a state that was ruled by the BJP for 15 years. He told a gathering, "*Nare to khoob lagate hain — pandra saal aise hi nikal diye.*" (They spout many slogans, but did little over the last 15 years.) To make good, Nath has proposed a scheme under which ordinary people of the state can adopt a cow. The idea is to open at least 1,000 cow shelters in the state by May this year. The proposed adoption will ensure economic viability of these shelters. According to an estimate, the government will spend ₹450 crore to build these shelters.

AS I SEE IT

An 'unconventional' interim Budget

Was Friday's Budget an act of constitutional impropriety, as the government's opponents have proclaimed, or was it justified, as its ministers insist?

KARAN THAPAR

With a speech that stretched over a hundred minutes the interim Finance Minister has announced major, new and sweeping policies that will have a significant impact on our people and economy. He called it an interim Budget but it definitely wasn't. It was a full-fledged Budget. Not only does it bear no comparison to the interim Budgets delivered by Jaswant Singh in 2004, Pranab Mukherjee in 2009 and P. Chidambaram in 2014 but few full-fledged Budgets have been as ambitious as this one.

So was this an act of constitutional impropriety, as the government's opponents have loudly proclaimed, or was it justified and legitimate, as its ministers insist?

Yashwant Sinha, a distinguished former Bharatiya Janata Party finance minister, has said that to use an interim Budget to announce major new policies involving sizeable expenditure and significant tax changes would be "unconstitutional". His arguement is simple. Convention is as much a part of our Constitution as its written articles and today it's a well-established convention that interim Budgets are just votes on account to ensure that the business of government continues.

You could, if you want, add a moral argument to the constitutional one. No doubt the Modi government is a full-fledged one with a majority in the lower house and a mandate till the May 26 but on April 1, when the new financial year starts, it will only have 46 days left. Is it fitting for it to present a full-fledged Budget valid for 365 days which covers 319 under its successor? Having done so, it's tied the next government's hands in two important senses: given their populist appeal, it would be difficult not to continue with these policies and, additionally, it might have to find the resources to fund them.

The government's grounds for presenting a full Budget three months before the elections seems equally persuasive. To begin with, in India conventions don't have the same force as they do in Britain. You could also argue that a convention exists only as long as it's observed. When it's not, it ceases to be.

More importantly, nothing in the Constitution actually disallows a government with just three months left from presenting a full-fledged Budget. Indeed, as Yashwant Sinha has admitted, "the constitution does not have a proviso that specifically deals with the presentation of the Budget". So if it's not specifically disallowed you could argue it's permitted.

Finally, there's Arun Jaitley's view which is based on the needs and exigencies of the economic situation. "The larger interests of the economy always dictate what should be in the interim Budget", he has said. At the present, he adds, there are challenges which "cannot afford to wait (and) there's a necessity to address some of them".

This is not such a singular standpoint. In 2014, when P. Chidambaram made a series of changes in excise duty and service tax, he justified his actions with the following logic: "the current economic situation demands some interventions that cannot wait for the regular Budget". Of course, Piyush Goyal went a lot further than P. Chidambaram. But you could say that's a matter of detail. The justification is the same.

Piyush Goyal's interim Budget also defies convention in one other sense and how it's hereafter treated by Parliament might be another. The farmers' income support scheme has been announced with retrospective effect. That's not just unusual it's never been done in an interim Budget. But then there's always a first time.

The manner in which Parliament handles the Goyal Budget could constitute another breach. N K Singh, a former Finance Secretary, has pointed out that so far changes to the Income Tax Act have always been referred to the Parliamentary Standing Committee on Finance. Will that happen this time? It will be novel if it doesn't. But doesn't Parliament have a right to decide whether or not it should?

Now, when the Prime Minister describes the Budget as "a trailer" is he only alluding to the possibility his government has more surprise announcements up its sleeve or is he also hinting there are other conventions that could be disregarded as the government burnishes its electoral appeal? I hope not but, after Friday's Budget, you can't be sure.

LETTERS

Revamp fiscal plan

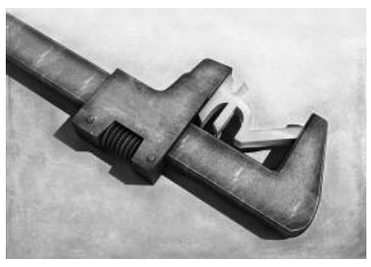

This refers to the article "Time to improve the fiscal architecture" (February 1). The three suggestions by A Prasanna relating to the creation of a Fiscal Council, the adoption of a 'deficit neutral' rule by the government and advance annual ceiling for market borrowing make sense in the context of the government's search for external remedies for internal debilities.

The government's efforts to camouflage fiscal deficit using surreptitious methods like deferring payments due and pressurising government-owned bodies to divert funds or pay extra or advance dividends have invited adverse observations by analysts. There is one school of thought that considers explaining a higher deficit with more prudent and transparent accounting system a better and desirable alternative than the present tightrope walking that brings embarrassment to several organisations.

The long-term solution lies in mapping the nation's unaccounted for wealth and considering a realistic taxation policy that covers high income groups and agricultural income.

M G Warrier Mumbai

Time for scrutiny

President Ram Nath Kovind, while highlighting the various achievements of the National Democratic Alliance government when he was addressing a joint sitting of both the Houses of Parliament, hailed the efforts to build a new India and touched upon issues like surgical strikes, the Rafale deal, Swachh Bharat, the Triple Talaq Bill, Citizenship Amendment Bill. These might be great achievements for the government but I want to ask what it has achieved with regard to core issues such as unemployment, poverty, rape, mob violence and a rapidly declining economy. These are the issues crying for attention.

Mohd Faheem Mumbai

Partial analysis

This refers to "What not to do in a corporate crisis" (February 1) by Aakar Patel. Mr Patel is grossly unfair to Dewan Housing Finance Corporation (DHFL) and overly favourable to the Zee Group — the two companies he has chosen to compare from the point of view of their response to the recent crisis situations.

In his eloquent write up, he tries to run down one highly respected (before the crisis) company and, at the same time, is strangely charitable to the other! He is purportedly commenting on the "corporate communication skills" of large Indian companies in general - "still executed by multi-billion dollar businesses in a crisis as if they were mom and pop shops" — but uses his immense capabilities and flowery word play to just run down one and find good in the other. My respect for him - as an exceptionally good independent columnist — has gone down several notches after reading this article, which smacks of outright partiality.

Without going into the faults of the two companies involved — as I do not have any knowledge about their working —I think DHFL's response is very specific, businesslike and to the point. Its only mistake perhaps was that it was not signed by their top man and, in contrast, Subhash Chandra *(pictured)*, chairman of Zee, seems to have written one, full of irrelevant family history and internal feuds. In another report, he had even alluded to "negative forces sabotaging his outfit" — hardly suitable when defending your company in the face of alleged loan repayment defaults.

Krishan Kalra Gurugram

Letters can be mailed, faxed or e-mailed to:
The Editor, Business Standard
Nehru House, 4 Bahadur Shah Zafar Marg
New Delhi 110 002
Fax: (011) 23720201 · E-mail: letters@bsmail.in
All letters must have a postal address and telephone number

HAMBONE

Business Standard
Volume XXIII Number 123
MUMBAI | MONDAY, 4 FEBRUARY 2019

Unsustainable welfarism

India needs a strong bond market to check electoral populism

Addressing a political rally in Durgapur, West Bengal, on Saturday, Prime Minister Narendra Modi hailed the interim Budget for 2019-20 as a "historic" step towards empowering peasants, workmen and the middle class, and promised more benefits for all sections in the full Budget if his party returned to power after the Lok Sabha polls. The interim Budget had several steps towards creating a welfare state, including an income support scheme for farmers owning up to 2 hectares — about 120 million households — who would receive income support worth ₹6,000 a year. It introduced a pension scheme for unorganised sector workers — with the government making a matching contribution — to provide a pension of ₹3,000 a month after 60 years of age. Then there was an income tax rebate for those with a taxable income of up to ₹5 lakh.

What is creditable is that the government has managed to do all this with a limited impact on the fiscal deficit. The broader point, however, is whether a country with relatively meagre financial resources can afford such open-ended welfare programmes. It would be unfair to blame this government alone; in fact, Mr Modi deserves compliments for coming out strongly against more damaging measures such as farm loan waiver because they destroy credit discipline while doing precious little to improve the condition of farmers. It's a different matter that the Bharatiya Janata Party did nothing to stop the Uttar Pradesh and Maharashtra governments from announcing the same in the run-up to the state elections. Competitive populism is something the opposition parties have also adopted with enthusiasm — Congress President Rahul Gandhi, for example, has said he would not allow Mr Modi to sleep till a pan-Indian farm loan waiver was announced and has promised a minimum income guarantee for all if re-elected in the Lok Sabha elections in May.

What these promises underline is a steady move towards welfarism that can't be reversed, binding the Indian state into fiscal commitments that would be increasingly difficult to sustain. Indeed, the evidence of the developed world over-committing and then slipping, as a result, is there for all to see. It would appear that the Indian political system is also making the same mistake. The truth is India's decision-makers do not have any effective guardrails to hold them back from promising something that could be exorbitantly costly. In a big way, the question is about the financial cost of such schemes. For example, in the absence of a well-developed bond market, there is no fully effective way for the markets to raise the red flag by means of higher yields and interest rates. India's half-hearted efforts to wean its lenders to the bond market have met with limited success. A strong bond market is a necessary institutional mechanism to check unrestrained fiscal populism. Its success would hinge on liquidity for lower-rated paper, investor appetite for the entire debt spectrum, adequate hedging mechanism, and an increasing supply of bankable papers. Given that the inexorable appeal of populism is unlikely to disappear soon, India must prioritise the development of a bond market.

Back to Feb 28

Advancing the Budget by a month not working out

The interim Budget — which was more like a full Budget than previous votes-on-account — was presented on the first day of February, as has been the case for the two preceding Union Budgets. This follows a decision taken during the 2016-17 financial year to advance the Budget presentation date by a month, ending the long tradition of presenting it on the last day of February. The first indication of this change came on October 26, 2016, when Prime Minister Narendra Modi — while chairing one of his meetings on timely implementation of schemes with states — urged bureaucrats to align their planning to this new schedule so as to benefit as much as possible from it. The hope was that an earlier Budget date would be able to provide greater certainty earlier in the year, and front-load expenditure somewhat. There had been complaints from various centres of expenditure in the Union and state governments that they tended to be somewhat short of disbursements in the first quarter of any financial year, as the government machinery responded too slowly to the Budget decisions announced in end-February. Legislative approvals for all spending should ideally have been undertaken during the month of March, so as to be ready for the new financial year in April — and sometimes there were delays.

But in the two financial years that this practice has been in place, the decision's drawbacks have become clear. Most importantly, there simply isn't enough data in place for a proper and effective budgeting process. Consider, for example, the headline numbers of any Budget — the fiscal deficit for the ongoing year, and the fiscal deficit target for the next financial year. While the latter is always an unknown value, the current year's fiscal deficit depends on the data available of spending and revenue over the months so far and expectations for the remaining months. When presented on February 1, not only is less known about expenditure — this is a surmountable problem, given expenditure choices are the government's — there is crucially too little known about revenue. This has led to revenue projections in the Revised Estimates being often the same as the Budget Estimates. If we don't have real revised numbers, it becomes harder to budget accurately for the new year. This takes away from the credibility of the fiscal deficit number. Even more worrying is the denominator of how the fiscal deficit is generally presented — as a fraction of gross domestic product (GDP). Unfortunately, the first Revised Estimates for GDP are only known by the end of January. The Advance Estimates of GDP, which are used instead, have been subject to major revisions recently. Some government officials highlighted, after the interim Budget, the difference that using the Revised Estimates would make to the Budget's predictions regarding the fiscal glide path.

There are several other ways in which the paucity of data makes a Budget-preparation exercise that targets February 1 far less useful than one targeting February 28 or 29. The only way to correct this is to return to the original date on which Budgets were presented — while improving the speed of disbursements of funds. There is no substitute for a sensible and clear Budgeting process.

ILLUSTRATION BY AJAY MOHANTY

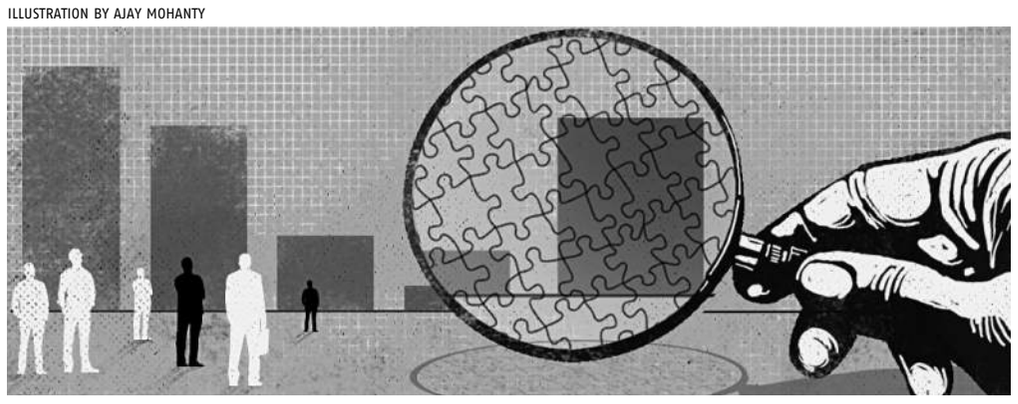

Hiding the real numbers

Contrary to expectations, Narendra Modi's government may have been more fiscally profligate than UPA-II

POLICY RULES

MIHIR S SHARMA

Unfortunately, it is now widely accepted that we can no longer trust the Indian government's numbers. And here I am not talking about the widely discussed "new series" calculations of gross domestic product; I am not talking about the discredited "back series" of that same GDP; and I am not even talking about the claims made about job growth using EPFO statistics, which measure formalisation of the economy. I am talking about the most fundamental macro-economic indicators: Those presented in the Budget.

In the interim Budget presented last week the numbers cannot be said to fairly reflect reality. Consider the claim that India continues to be on a "fiscal glide path" to a deficit of 3 per cent of GDP. This is increasingly hard to believe. The years after the near-crisis of 2013, including the last year of the United Progressive Alliance, featured apparently genuine attempts to cut the deficit. But those attempts appear to have been given up on.

This year, although there is no major macro-economic crisis, the fiscal deficit target has again been missed — and we are supposed to believe that, once again, we will make the 3 per cent target not this year, not next year, but the year after next. This is like when senior UPA officials constantly claimed that 8 per cent growth was two to three quarters away. Government officials can truthfully point out that the slippage was only from 3.3 per cent of GDP to 3.36 per cent of GDP. However, the "glide path" can no longer be taken seriously, and deserves the same scepticism that the UPA's insistence received.

Other projections in the Budget are similarly untrustworthy. No real answers have been given as to why the receipts from the goods and services tax are ₹1 trillion less than the Budget estimates. If GST revenue increase by about 6 per cent this year, why does the Budget claim that it will go up by about 20 per cent next year? If it does not, what happens to the Budget's projections?

Prime Minister Narendra Modi has been given considerable credit for being a fiscal hawk. The evidence suggests, however, that while he wants credit for being a fiscal hawk, he is unwilling to actually rein in spending or increase revenue. It seems that it was in fact the UPA that worked harder on fiscal compression. If you don't believe that, why not listen to Economic Affairs Secretary Subhash C Garg? He pointed out this week to the *Financial Express* that "the real expenditure growth during the entire five-year tenure of the previous government was only about two per cent".

As a consequence of the Modi government's unwillingness to control spending, the Budget deficit figure is not just unbelievable, thanks to the unrealistic projections, but also downright deceptive. Government expenditure is being hidden by financing spending through other pools of cash that are under government control. A comparison with the first UPA's off-Budget liabilities, such as "oil bonds", is revealing. That process was more transparent. The then finance minister, who justly built up a reputation for depending on off-Budget items and spending rollovers, did at least himself acknowledge the problem in his speech: "As a first step, I have shown these liabilities clearly... I intend to request the 13th Finance Commission to revisit the roadmap for fiscal adjustment [to take these off-Budget liabilities into account]". No such transparency is on display at the moment.

The mechanisms being used are unprecedented and problematic in a manner quite different from the oil bonds. The small savings fund, for example, is being used to prop up Air India — something that was in the past done out of Budget allocations. This is not the government's tax revenue to use. It is our savings — our public provident fund money, for example. It is being used for political ends, such as protecting Air India, even though that failing airline is a uniquely awful destination for anyone's savings. This money should have come out of taxes. Why are we blaming bankers for throwing good money after bad to Kingfisher when the government, as the protector of our savings, is doing exactly the same with Air India?

Then there is the misuse of disinvestment — which no longer implies the reduction of government control and thus increasing the productivity of capital tied up in the public sector. Instead disinvestment has become an exercise in shifting capital from the public sector to the government, which then uses it to fund expenditure. This is a scandalous misuse of public resources and constantly increases inefficiency and capital misallocation in the economy. Public sector enterprises should use their reserves to invest.

Other public agencies are being forced to borrow in order to meet government policy priorities, since direct funding has been slashed. The Budget squeezed the highways ministry, for example, raising next year's outlay by only 6 per cent. The consequence is that agencies like the National Highways Authority of India, although they have no real balance sheet strength, are upping borrowing considerably, at government orders — without this being reflected in the Budget numbers. The NHAI owes ₹1.5 trillion, and has negligible earnings or cash flow. It finances its past debt by taking on new debt, all with a sovereign guarantee. The roads it borrows against are not its to give away — they are the property of the government. Most expect that the NHAI will be borrowing ₹60,000 crore from the market and the Food Corporation of India will be borrowing ₹1 trillion. All of this borrowing — directed and guaranteed by the government — is invisible in the Budget.

Analysts have begun to point to these negative debt dynamics. Pranjul Bhandari of HSBC has pointed out in these columns that the net supply of government paper has gone up from 6.6 per cent of GDP to 8.2 per cent of GDP in just two years. Sajjid Chinoy of JPMorgan argues that the public sector borrowing requirement has remained "close to" 8.2 per cent of GDP for five years, and so household financial savings "have fallen in recent years from 22 per cent of GDP to 16 per cent". Most directly focusing on the Centre, Prithviraj Srinivas of Axis Bank points out that the "government directed borrowing has net increased" under Mr Modi: Public sector enterprises now borrow 1.6 per cent of GDP more, while the government has reduced its stated fiscal deficit by only 1.1 per cent of GDP.

There is only one possible conclusion: Mr Modi deserves no credit for fiscal prudence. He has in fact been more profligate than wise. If private investment has not revived, it is because the government is crowding out private borrowing — flooding the market with its own paper, instead of paying for its spending out of taxes like it should. You can rightly laugh at GDP numbers that claim we grew faster in the demonetisation year than in any other in our history. But if you do believe the GDP numbers, then you should note that there has been a sharp slowdown last year — at the same time that borrowing hit high gear. The Centre for Monitoring Indian Economy said last month that new project starts are at a 14-year low. This is stagnation, not growth. Mr Modi's big bet — that government spending could kick-start investment when combined with big talk and a little painless reform — has failed. He took over a recovering economy with a tight deficit reduction programme and ran it into the ground.

m.s.sharma@gmail.com
Twitter:@mihirssharma

Why is bad behaviour in FIs widespread?

A spate of corporate scandals and cases of poor governance have been hitting the headlines regularly for the past few months: The tottering behemoth Infrastructure Leasing & Financial Services, the sinking Dewan Housing Finance Ltd, alleged improprieties by the former managing director of ICICI Bank, the shock and horror show unleashed by the Zee promoters, unknown issues in YES Bank and Axis Bank, whose chiefs have been shown the door, and, of course, the continuing self-serving behaviour of some promoters like that of Sterlite/Vedanta, and so on.

Each of these events has led to a sudden and massive erosion in shareholder value. DHFL is the most egregious of all, whose stock has fallen from just under ₹700 to about ₹110 now, a crash of 85 per cent since early September 2018. The shares of YES Bank have more than halved. IL&FS is an unlisted company but its impact has reverberated across the financial sector with liquidity drying up and risk aversion rising.

IRRATIONAL CHOICE

DEBASHIS BASU

Coming in quick succession, these events have once again showed how little shareholders can possibly know about what is going on inside a publicly listed company. This applies as much to institutional shareholders as to retail shareholders. Can something be done to avoid situations like these? At one extreme, each time an "accident" happens, some will call for stricter regulation. At another extreme, some tend to shrug and say, "You can't regulate bad behaviour," meaning accidents will always happen and regulation cannot stop them. Is it possible to have a more meaningful perspective other than these two extremes, and, if so, a more effective solution to the problem of bad corporate behaviour?

We can reduce accidents only if we look deeper and isolate what is by far the biggest component of the issue of bad corporate behaviour. Notice one thing common among the names IL&FS, DHFL, ICICI Bank, YES Bank, Axis Bank...? They are all financial firms. Also remember, India's economic growth has been severely held back by the massive loot of the largest segment of the organised financial sector — public sector banks (PSBs) — by netas, babus, bankers and businessmen. Between them, PSBs and rogue financial firms have inflicted the maximum damage to savers at the micro level and to the economy at the macro level.

If there is a systemic crisis, if there are fears of a contagion, if the money of retail savers is at risk, you can bet that one or more financial firms would have caused it. The financial crisis that started in the US and spread like wildfire from Iceland to India was entirely caused by lenders with the help of stockbrokers and institutional investors — the key players in the financial sector.

It isn't that non-financial firms cannot be blamed for large-scale wealth destruction through financial frauds. But such instances are rare. And over the years, regulation and disclosure in securities markets have ensured that sensible investors can avoid accidents by staying away from promoters with a poor record of governance. Supervising financial firms, however, is another matter. Financial firms need stricter rules of operations. If they are publicly listed, they have to be supervised by two regulators at least — the securities market regulator, the Securities and Exchange Board of India, and the financial markets regulator like the Reserve Bank of India. Housing finance firms are additionally supervised by the National Housing Bank. If financial firms are the cause of repeated crises, could it be that the regulators are not doing their job properly? Try to answer these questions:

- PSBs have needed repeated bailouts over the last 20 years with public money. How many people have been held accountable for it?
- That a lender must have enforceable collaterals throughout the term of a loan is something even a school student would understand. Who has been held responsible and punished for the ₹10 trillion which went bad at PSBs and may not be recovered because they don't have any enforceable collateral?
- Why has the ministry of finance been funnelling public money into PSBs for three decades without doing something fundamental — bringing in a system of positive and negative incentives?
- If Dewan Housing Finance collapses, would the National Housing Bank be questioned?
- How could IL&FS, supervised by the RBI, be allowed to run by a small cabal of professionals like their private fief for almost three decades? Or allowed to create a web of almost 350 companies that borrowed more than ₹1 trillion?
- Didn't the RBI brass fail to act on multiple letters from an IL&FS whistleblower and its own inspection report? If so, shouldn't someone be punished?

This is just a small sample of lawlessness that is rampant in the financial sector, which needs stricter, not more relaxed, regulation, one that must be followed in practice and not remain on paper. What we have, instead, is regulatory capture by crooked players due a combination of corruption and incompetence among regulators. Hence, the way to avoid systemic risks is to make regulators, especially those directly in charge of financial firms, accountable for every major slip. The question is: Who can supervise the regulators? It is the ministry of finance and the prime minister's office since they function like a strong command and control centre. But over five years of maximum governance, neither of these offices has made financial regulators accountable.

The writer is the editor of www.moneylife.in
Twitter: @Moneylifers

Chris Christie's testament

BOOK REVIEW

DWIGHT GARNER

When Chris Christie first met Donald Trump, over dinner at the Manhattan restaurant Jean-Georges in 2002, the developer ordered for both of them. This power move has received insufficient study.

Trump had waiters bring Christie the seared scallops and the roasted lamb loin. "I'm allergic to scallops," Christie recalls in his new memoir. He adds, "I've always hated lamb."

The future governor of New Jersey was gleaning lessons in domination. He was an apt pupil. *Let Me Finish* is a superficial and ungainly book that tries to cover so many justifications, it's a master class in sucking up and kicking down, it's a potted memoir, it's a stab at political rehabilitation — that reading it is like watching an octopus try to play the bagpipes.

At heart it's a reminder that, before Bridgegate, before the 2016 presidential election and before the infamous photographs of him sunbathing on a closed beach during a 2017 state government shutdown, Christie was the favourite political intimidator of many Americans. An alternative title for this unintentionally poignant book might have been, "You Used to Really Like Me, Remember?"

Because Christie was positioned to be the brashest candidate in 2016, he had the most to lose from a Trump insurgency. He saw the threat instantly. After the first Republican debate, he said to his wife, "We've got a problem."

"From a stylistic perspective," Christie writes, "he was everything I was — but on jet fuel."

After he dropped out of the 2016 race, Christie became the first governor to endorse Trump. Christie drew on his long friendship with Trump and became a close adviser. Often enough, in his own estimation, he was the only adult in the room. He nearly became Trump's running mate.

He was repeatedly stymied by Jared Kushner, Trump's son-in-law. Like a fawn, Kushner is seen in this book grazing on what Christie calls "his typical salad."

Bambi was bent on payback. Christie had helped send Kushner's father, the prominent New Jersey real estate developer Charles Kushner, to prison in a lurid case that involved tax evasion and witness tampering. According to Steve Bannon, Christie writes, Jared Kushner was "obsessed with destroying me." Every chair Christie sat in had a trap door underneath.

Christie saves his real fire in this book — which was written by a ghostwriter named Ellis Henican — for Bannon, the one-time chief executive of Trump's campaign. He calls Bannon "self-impressed," a "snake" and "the only person I have ever met who can look pretentious and like an unmade bed at the very same time."

Christie accuses Bannon of peddling lies about him to Bob Woodward, among other journalists. More crucially, he remains apoplectic over Bannon's decision, alongside other advisers, to toss out Christie's monumental 30-volume plan for Trump's transition.

Trump didn't want to talk about the transition. Bad karma, he thought. Expecting Trump's other senior advisers to read 30 volumes, especially from Christie, was like waiting for monkeys to begin typing Shakespeare. In Christie's view, trashing the transition plan was the original sin of the Trump administration.

The president didn't get the right people. Instead he got "the revolving door of deeply flawed individuals — amateurs, grifters, weaklings, convicted and unconvicted felons — who were hustled into jobs they were never suited for, sometimes seemingly without so much as a background check via Google or Wikipedia."

If Trump had only listened to him, Christie writes, he would have fired James B Comey, then director of the FBI, at the start of his administration. His later firing would become, according to Bannon, the worst mistake in modern political history.

If you skim through *Let Me Finish*, nearly all you will see is Christie saying, in so many words, I told you so.

He told Trump that retired Lt Gen Michael T Flynn was trouble. He told Trump to stop picking on Khizr Khan, the Gold Star father. He was the only one who could tell Trump when he'd done poorly in a debate. Christie's sense of being right at every moment is wearying. Like a fan that blows for too long, his grille fills with dust.

As a literary performance, this book is nylon, not wool or silk. If you want to read an excellent book about Christie and about New Jersey politics, find a copy of Matt Katz's 2016 biography, *American Governor: Chris Christie's Bridge to Redemption*. It's cleareyed but sympathetic. Christie is vastly more likable in it than he is here.

Trump himself comes off rather well in this book. Christie remains a believer. He praises Trump as a father. He writes: "He knows who he is and what he believes in. He has a keen understanding of what regular people are feeling. He commands extraordinary loyalty from his supporters and has unique communication skills." He thinks it's not too late for Trump to turn things around.

Is *Let Me Finish* a plea to be let back in, at a high level, to Trump's administration? Is it a platform from which to run for president in 2020 if Trump drops out? Do voters want him back? This self-serving book doesn't make the most appealing case. Is anyone longing for another in-your-face president? And does he have too much baggage? It may be true that, as Karl Ove Knausgaard put it in one of his "My Struggle" novels, "What's done is dung and cannot be undung."

©2019The New York Times News Service

LET ME FINISH:
Trump, the Kushners, Bannon, New Jersey, and the Power of In-Your-Face Politics
Chris Christie with Ellis Henican
Hachette Books
420 pages; $28